मा.सु.6, 2073
Tervada
DATE ___/___/___

धर्मरत्न-प्रकरणम्

(मूल + स्वोपज्ञवृत्ति - शान्तिसूरि म.)

गा. नमिऊण सयलगुणरयणकुलहरं विमलकेवलं वीरं।
धम्मरयणत्थिआणं जणाण वियरेमि उवएसं ॥1॥

अ. सकल गुण रूपी रत्न के कुलगृह समान, विमल केवल ज्ञान वाले वीर प्रभु को नमन कर धर्मरत्न के अर्थी जीवों को उपदेश कहता हूँ।

टी. (i) पूर्वार्द्ध से विघ्नविनायक की उपशांति के लिए इष्ट देवता को नमस्कार द्वारा मंगल।

(ii) उत्तरार्द्ध से अभिधेय।

(iii) संबंध → उपाय - प्रकरण। उपेय - अर्थ का ज्ञान।
साधन - प्रकरण। साध्य - अर्थ का ज्ञान।

(iv) प्रयोजन

कर्तुः		श्रोतुः	
अनन्तर	परंपर	अनंतर	परंपर
↓	↓	↓	↓
सत्त्वानुग्रह	मोक्षप्राप्ति	अर्थ का ज्ञान	मोक्षप्राप्ति

(v) सूत्र की व्याख्या की विधि -

1. संहिता = अस्खलितादि गुणों से युक्त सूत्रोच्चारण।
2. पद = संस्कृतभाषा अनुसार पद कहना।
3. पदार्थ = प्रत्येक पद का अर्थ।
4. पदविग्रह = समासादि का विग्रह।
5. चालना = प्रश्न करना।
6. प्रत्यवस्थान = Solution।

(vi) सकल गुण रूपी रत्नों के कुलगृह यानि उत्पत्ति स्थान।

(vii) प्र. सकल गुण कहने में केवलज्ञान भी आ जाता है, तो केवल पद अलग क्यों किया?
उ. सभी गुणों में केवलज्ञान की प्रधानता बताने के लिए।

(viii) 'धर्मरत्नार्थिभ्यः' इस पद से श्रवण के अधिकारियों का अर्थित्व ही मुख्य लिंग बताया।

→ प्रस्तावना →

गा. भवजलहिम्मि अपारे दुल्लहं मणुयत्तणंपि जंतूणं।
तत्थवि अणत्थहरणं दुल्लहं सद्धम्मवररयणं ॥2॥

अ. अपार ऐसे भव रूपी समुद्र में जंतुओं का मनुष्यत्व दुर्लभ है, उसमें भी अनर्थ को हरने वाला सद्धर्म रूप श्रेष्ठ रत्न दुर्लभ है।

टी. (i) अपार - अनादि और अनिधन होने से।
(ii) 'अपि' का अर्थ - आर्य देश-कुल-आरोग्यादि सामग्री।
(iii) दारिद्र्यक्षुधोपद्रवादि अपाय रूप अनर्थ।
(iv) श्रेष्ठ रत्न - सभी अपायों को नाश करने वाला होने से।

→ अव. - इसी अर्थ को दृष्टांत से कहते हैं -

गा. जह चिंतामणिरयणं सुलहं न हु होइ तुच्छविहवाणं।
गुणविभववज्जियाणं जियाणं तह धम्मरयणंपि ॥3॥

अ. जिस प्रकार तुच्छ वैभव वाले जीवों को चिंतामणिरत्न सुलभ नहीं है वैसे ही गुण रूपी वैभव से रहित जीवों को धर्मरत्न दुर्लभ है।

टी. (i) अपि शब्द से - 'एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों को धर्म प्राप्ति है ही नहीं, पंचेन्द्रिय में भी योग्यता - हेतु - गुण - सामग्री से रहित जीवों को धर्मप्राप्ति नहीं है' इस प्रकार भावना करना।

→ अव. - कितने गुण से संपन्न जीव धर्मप्राप्ति के योग्य है? -

गा. इगवीसगुणसमेओ जोगो एयस्स जिणमए भणिओ।
तदुवज्जणंमि पढमं ता जइयव्वं जओ भणियं ॥4॥

अ. 21 गुण से युक्त जीव इस धर्म के योग्य जिनमत में कहा गया है। इसलिए पहले इन गुणों के उपार्जन में यत्न करना चाहिए। क्योंकि कहा गया है -

टी. (i) कहा गया है - 'पूर्वाचार्य द्वारा' इस प्रकार अध्याहार है।

अव. पूर्वाचार्य द्वारा कहा गया कहते हैं -

DATE ___/___/_____

गा. धम्मरयणस्स जोग्गो अक्खुद्दो रूवतं पयइसोमो।
लोगप्पिओ अकूरो भीरू असढो सुदाक्खिन्नो ॥5॥
गा. लज्जालुओ दयालू मज्झत्थोसोमदिट्ठि गुणरागी।
सक्कह सुपक्खजुत्तो सुदीहदरिसी विसेसन्नू ॥6॥
गा. वुड्ढाणुगो विणीओ कयन्नुओ परहियत्थकारी य।
तह चेव लद्धलक्खो इगवीसगुणेहिं संपन्नो ॥7॥

ब्र. धर्मरत्न के योग्य इक्कीस गुणों से संपन्न होता है- अक्षुद्र[1], रूपवान्[2], प्रकृतिसौम्य[3], लोकप्रिय[4], अक्रूर[5], भीरु[6], अशठ[7], सुदाक्षिण्य[8], लज्जालु[9], दयालु[10], मध्यस्थ-सौम्यदृष्टि[11], गुणरागी[12], सत्कथ[13], सुपक्षयुक्त[14], सुदीर्घदर्शी[15], विशेषज्ञ[16], वृद्धानुग[17], विनीत[18], कृतज्ञ[19], परहितार्थकारी[20], लब्धलक्ष्य[21]।

टी. (i) 'रूपवान्' में मतु प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में अर्थात् प्रशस्त रूप से युक्त। मात्र 'रूप वाला' अर्थ में इन् प्रत्यय ही होता है eg. रूपिणः पुद्गलाः।
(ii) प्रकृतिसौम्य= प्रशांत चित्त होने से सुंदर स्वभाव वाला।
(iii) लोकप्रिय= सदाचारी होने से।
(iv) भीरु= इह-परलोक संबंधी अपायों से डरने वाला।
(v) अशठ= सद्भावसार अनुष्ठान करने से।
(vi) लज्जालु = पापवृत्ति में शंकित होने से।
(vii) मध्यस्थसौम्यदृष्टि= रागद्वेष रहित मध्यस्थ और सौम्य दृष्टि वाला, यथावस्थित वस्तु देखने वाला।
(viii) गुणरागी= सत्पुरुषों में बहुमान वाला।
(ix) सुदीर्घदर्शी= बुद्धि संपन्न होने से।
(x) विशेषज्ञ = सार- असारादि वस्तु जानने वाला, कदाग्रह रहित।
(xi) कृतज्ञ= थोड़ा भी किसी का उपकार नहीं भूलने वाला।
(xii) परहितार्थकारी = प्रत्युपकार की अपेक्षा रहित।
(xiii) प्र. सुदाक्षिण्य से परहितार्थकारी का क्या विशेष है? उ. सुदाक्षिण्य विनति करने पर कार्य करता है, परहितार्थकारी स्वतः करता है।

भर्तुर्भार्याकृतं पापं शिष्यपापं गुरोर्भवेत्। राज्ञि राष्ट्रकृतं पापं राजपापं पुरोहिते। (स्मृति)

DATE __/__/ 91

गा. खुद्दोत्ति अगंभीरो उत्ताणमई न साहए धम्मं।
सपरोवयारसत्तो अक्खुद्दो तेण इह जोग्गो ॥8॥

अ. क्षुद्र यानि अगंभीर। वह उत्तानमति वाला होने से धर्म नहीं साध सकता है। स्व-पर उपकार में समर्थ अक्षुद्र यहाँ धर्म में योग्य है।

वि.
(i) उत्तानमति यानि अनिपुणबुद्धि। धर्म सूक्ष्मबुद्धि से साध्य है।

(ii) अक्षुद्र - सूक्ष्मदर्शी, पर्यालोचनकारी।

(iii) शुक्तिमति पुरी x क्षीरकदंब ब्राह्मण, पापभीरु x पर्वत पुत्र, नारद, राजपुत्र वसु तीन छात्र x गोचरी में आए साधु संघाटक को कहे कि तीन में से दो सुगति वाले और एक दुर्गतिगामी है x ब्राह्मण ने सोचा कि मेरा शिष्य दुर्गति में जाए तो पाप मुझे भी लगेगा, अतः परीक्षा करूँगा, राजपुत्र की दुर्गति संभव है x नारद को बुलाकर एक बकरा देकर कहा - जहाँ कोई न देखे, वहाँ मारना x वह मारे बिना वापस आया x पर्वत मारकर आया x ब्राह्मण दुःखी हुए कि उनका पुत्र दुर्गतिगामी है, उन्हीं मुनि के पास दीक्षित हुए xx वसु राजा, सत्यवादी, सिंहासन स्फटिक शिला से आकाश में x पर्वत उपाध्याय x नारद मिलने आया x पर्वत ने छात्रों को पढ़ाया कि अज यानि बकरी से यज्ञ करना चाहिए x नारद कहे अज यानि न उगने वाले पुराने चावल x गुरु माता के कहने से वसु झूठ बोला और भवनदेवता ने शिला तोड़ी x वसु नरक गया x पर्वत नगरी से निकाला गया x नारद की प्रसिद्धि हुई।
इस प्रकार सूक्ष्मबुद्धि वाला और स्व-पर उपकार में समर्थ अक्षुद्र धर्म के लिए योग्य है।

गा. संपुन्नंगोवंगो पंचिंदियसुंदरो सुसंघयणो। होई पभावणहेऊ खमो य तह रूववं धम्मे ॥9॥

अ. संपूर्ण अंगोपांगवाला, पाँचों इंद्रिय से सुंदर, अच्छे संघयण वाला रूपवान् धर्म में प्रभावना का हेतु और समर्थ होता है।

वि.
(i) संपूर्ण अंगोपांग = अन्यून अंगोपांग वाला। सभी अंग-उपांग पूरे हो।

(ii) पंचेंद्रियसुंदर = जिसकी पाँचों इंद्रिय स्वस्थ हो, काना-गूंगा-बहरा न हो।

(iii) सुसंघयण = मात्र पहला संघयण नहीं किंतु सभी संघयण लेना। तप-संयम के सामर्थ्य से युक्त।

(iv) प्र. नंदीषेण-हरिकेशबलादि कुरूप को भी धर्मप्राप्ति हुई? उ. रूपवान् के 2 अर्थ - सामान्य यानि संपूर्ण अंगोपांग, अतिशय रूप। सामान्य रूप तो नंदीषेणादि मुनि में था ही। अतिशय रूप तो तीर्थंकर में ही संभव है किंतु यहाँ 'देखो! यह रूपवान् है' ऐसा प्रत्यय लोगों को

दानेन सत्त्वानि वशीभवन्ति दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानात्तस्माद्धि दानं सततं प्रदेयम्॥

DATE ___/___/___

उत्पन्न करने वाला लिया है। तथा आगे कहेंगे 'पायट्ठगुणविहीणा' एकाध गुण के अभाव में शेष गुणों से धर्म प्राप्ति होती है।

(v) उदाहरण - चंदनबाला, प्रसिद्ध होने से नहीं लिखा।

गा. पयईसोमसहावो न पावकम्मे पवत्तई पायं। हवइ सुहसेवणिज्जो पसमनिमित्तं परेसिंपि (120)

अ. प्रकृति से सौम्यस्वभाव वाला प्रायः पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होता और सुख से सेवनीय है तथा दूसरों को भी प्रशम का निमित्त होता है।

टी. (i) उदाहरण - अंगर्षि → चंपापुरी x कौशिकार्य उपाध्याय x 2 छात्र x अंगर्षि - सौम्य, पियंवद, न्यायी, विनीत x रुद्रक - ईर्ष्यालु, अंगर्षि के छिद्र देखने वाला x एकबार दोनों को इन्धन लाने के लिए भेजा x अंगर्षि लकड़ी काटकर लाया x रुद्रक दिन में घूत वि. देखता रहा, शाम को डरा हुआ एक वृद्धा को आते हुए लकड़ी लाते हुए देखा x उसे मारकर वह लकड़ी लाया x वह जल्दी गया और उपाध्याय को बोला कि अंगर्षि वृद्धा को मारकर लाया x उपाध्याय ने अंगर्षि को आश्रम से निकाल दिया x वह दूर वृक्षछाया में बैठकर स्वयं दोष देखने लगा x केवलज्ञान x रुद्रक भी संताप से केवलज्ञानी।

गा. इहपरलोयविरुद्धं न सेवए दाणविणयसीलड्ढो। लोआवेओ जणाणं जणेइ धम्मंमि बहुमाणं (121)

अ. इह-पर लोक विरुद्ध सेवन नहीं करने वाला, दान-विनय-~~सौम्य~~ शील से युक्त लोकप्रिय लोगों को धर्म में बहुमान उत्पन्न करता है।

टी. (i) इहलोक विरुद्ध - परनिन्दादि। परलोक विरुद्ध - खरकर्म वि.। उभय लोक विरुद्ध - द्यूतादि 7 व्यसन।
द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या, पापर्द्धिचौर्ये परदारसेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके, पापाधिके पुंसि सदा भवन्ति॥

(ii) उदाहरण सुजात → चंपापुरी x मित्रप्रभराजा x धनमित्र सेठ x धनश्री सेठानी x सुजात पुत्र x धर्मघोष मंत्री, पिंगु पत्नी x उसकी दासी रास्ते में सुजात की क्रीड़ा देखने से लेट (late) हुई x दासी ने कहा - सुजात को देखने में देर हुई x पिंगु देखकर उसका अनुकरण करने लगी x मंत्री ने देखा तो सोचा जरूर! सुजात दुराचारी है x राजा को कूटपत्र लिखा x राजा ने सोचा - इसे यहाँ सजा नहीं कर सकता अतः पत्र में भगने का लिखकर अरिष्टपुरी नगरी में चन्द्रध्वज राजा के पास भेजा x चन्द्रध्वज ने चन्द्रयशा नामक रोगी बहन से शादी कर गुप्त रखा x वह रोगी होने से मरकर देव बनी x देव ने सुजात के कवच उतारने

DATE / / 93

के कथन से ~~देवेन्द्र~~ नगर पर शिवा बनाकर राजा को सुजात का नगर प्रवेश करने को कहा x राजा ने नगर प्रवेश कराया x सुजात ने दीक्षा ली।
इस प्रकार लोकप्रिय से बहुत लोगों को धर्म बहुमान होता है।

गा. कूरो किलिट्ठभावो समं धम्मं न साहिउं तरइ। इय सो न एत्थ जोगो जोगो पुण होइ अक्कूरो ॥12॥
अ. क्लिष्ट भाव वाला क्रूर सम्यक् धर्म आराधने के लिए समर्थ नहीं है। इसलिए वह धर्म में योग्य नहीं है। योग्य तो अक्रूर है।
टी (i) क्लिष्ट भाव वाला परछिद्र देखने वाला, कलुषित मन वाला, स्व अनुष्ठान करता हुआ भी फल नहीं पाता है।

गा. इहपरलोगावाए संभावंतो न वट्टई पावे। वीहइ अयसकलंका तो खलु धम्मारिहो भीरू ॥13॥
अ. इह-परलोक के अपायों को विचारता तथा अयश-कलंक से डरता है, अतः भीरू पाप में प्रवृत्त नहीं होता। वह धर्म के योग्य है।
टी (i) उदाहरण - सुलस → राजगृह x कालसौरिक कसाई - 500 पाड़े, अभय, धातुविपर्यास रोग, खींचक x पुत्र सुलस x स्वजन पाड़े मारने को कहे x मना किया x स्वजन ने कहा पाप भाग में बाट लेंगे x उसने स्वयं के पैर पर कुल्हाड़ी मारी x कहा दुःख ले लो x इस प्रकार समझाया।

गा. असढो परं न वंचइ वीससणिज्जो य। उज्जमइ भावसारं उचिओ धम्मस्स तेणेसो ॥14॥
अ. अशठ (सरल) दूसरे को ठगता नहीं है इसलिए विश्वसनीय और प्रशंसनीय होता है। तथा भावसार रूप धर्म में उद्यम करता है इसलिए यह धर्म के योग्य है।
टी (i) भावसार धर्म - दूसरे का रंजन करने के लिए नहीं।

गा. उवयरइ सुदक्खिन्नो परेसि मुज्झिय-सकज्जवावारो।
तो होइ गब्भवक्को पुवत्तणीओ य सव्वस्स ॥15॥
अ. सुदाक्षिण्य वाला स्वकार्यव्यापार छोड़कर दूसरे का उपकार करता है। इसलिए वह सभी के लिए ग्राह्यवाक्य और अनुवर्तनीय होता है।
टी (i) सुदाक्षिण्य पद में सु शब्द से यह विशेषित किया है कि इह-पर के उपकारी प्रयोजन में ही

सुट्ठु गाइअ सुट्ठु बाइअ सुट्ठु नच्चिअ सामसुंदरि!
अणुपालियदीहराइयाओ सुमिणंते मा पमायए॥

DATE ___/___/___

उपकार करता है, पाप हेतु में नहीं।

(ii) उदाहरण- क्षुल्लक कुमार→साकेतपुर x पुंडरिक राजा x कंडरिक भाई और युवराज x यशोभद्रा युवराज्ञी राजा ने देखा x राजा ने प्रार्थना की x उसने मना किया x राजा ने भाई को मारा x यशोभद्रा भागी x श्रावक गई x साध्वी के पास दीक्षा ली x गुप्त गर्भ x शय्यातरी के यहाँ पुत्र जन्म x क्षुल्लक नाम x 8 वर्ष पाला x दीक्षा दी. अजितसेनसूरि के पास x 12 वर्ष बाद संयम ग्रहण x 12 वर्ष माता के कहने से x 12 वर्ष गुरु के गुरु के कहने से x 12 वर्ष आचार्य से x फिर नहीं माना तो माता ने मुद्रा और कंबलरत्न देकर साकेतपुर भेजा x साकेतपुर में राजमहल में नाटक x नट- 'सुट्ठु गाइअं सुट्ठु बाइअं सुट्ठु नच्चिअं सामसुंदरि! अणुपालियदीहराइयाओ सुमिणंते मा पमायए' | क्षुल्लक रत्नकंबल, यशोभद्र युवराज कुंडल, श्रीकांता सार्थवाही हार, जयसंधि मंत्री कंकण, कर्णपाल महावत रत्नांकुश डाला x प्रत्येक लाख मूल्य के x राजा ने पूछा x क्षुल्लक ने राज्य लेने का कहा, युवराज ने राज्य का कहा, श्रीकांता ने लंबे प्रवास पर सार्थवाह/मंत्री ने अन्यराजा द्वारा तोफा ने का कहा, महावत ने शत्रुराजा द्वारा पट्टहस्ती भगाने गया, रूपवान पुरुष के संग का कहा
का कहा x सबने क्षुल्लक के पास दीक्षा ली x गुरु के पास गए।

गा. लज्जालुओ अकज्जं वज्जइ दूरेण जेण तणुयंपि। आयरइ सयायारं न मुयइ अंगीकयं कहवि॥ (216)

अ. लज्जालु थोड़े भी अकार्य का दूर से वर्जन करता है और सदाचार आचरता है तथा स्वीकार किए हुए धर्म को कैसे भी नहीं छोड़ता। (इसलिए योग्य है)

ई (i) कहवि- स्नेहवत्व अभियोगादि से भी नहीं।

(ii) उदाहरण- चंडरुद्राचार्य x चंड x क्रोधालु होने शिष्य दूसरे उपाश्रय में रहते x एक नवपरिणीत श्रेष्ठिपुत्र मित्रों के साथ क्रीड़ा के लिए उद्यान में आया x मित्र साधुओं को मजाक में कहने लगे ये हमारा मित्र कुरूपकन्या मिलने से विरागी है, इसे दीक्षा दो x साधुओं ने स्वाध्याय में विक्षेप होने से कहा वहाँ हमारे गुरु के पास तो जाओ x मित्र वहाँ पहुँचे और वैसा ही बोले x गुरु ध्यान में विक्षेप होने से गुस्सा हुए और कुंडी की राख से लोच कर दिया x मित्रों ने कहा- हमतो मजाक कर रहे थे x वह 'सज्जन कार्य से पीछे नहीं हटते' सोचकर बोला- इनकी मत सुनो, मुझे दीक्षा दो, सब भाग गए x शिष्य वंदन कर बोला- सुबह मेरे बहुत स्वजन आएँगे, अतः अभी विहार करें x गुरु बोले तू आगे चलकर राह बता x खराब रास्ते में गुरु शिष्य के सिर पर डंडे मारते हैं x वह सोचता है- मेरे द्वारा गुरु संकट में डाले गए x पीठ पर बैठे x फिर भी डंडे मारे x केवलज्ञान x सीधा चला x गुरु के पूछने पर बोला

DATE __/__/ 95

ज्ञान से मार्ग दिखता है x गुरु का पश्चात्ताप, केवलज्ञान।

गा. मूलं धम्मस्स दया तयणुगयं सव्वमेवणुट्ठाणं।
सिट्ठं जिणिंदसमए मग्गिज्जइ तेणिह दयालू ॥८॥

अ. दया धर्म का मूल है। श्रीजिनेंद्र के शास्त्र में सभी अनुष्ठान दया के अनुगत कहे गए हैं। इसलिए यहाँ धर्म में दयालू ढूँढा जाता है।

हि. (i) भावार्थ → जो स्वतः ही दयालू है, वही सुखपूर्वक ईर्यासमिति आदि में प्रवर्तता है।

(ii) उदाहरण- धर्मरुचि → कोई कुलपुत्र x तापस दीक्षा x कंदमूल तोड़ना वि. आरंभ x चौपस वि. तिथि को अनाकुट्टि (हरीवनस्पति त्याग) x दया से उसने सोचा यदि रोज अनाकुट्टि होती अच्छा x साधु को जंगल में जाते देख, आचार जानकर दया से दीक्षित हो गया।

गा. मज्झत्थसोमदिट्ठी धम्मविचारं जहट्ठियं मुणइ। कुणइ गुणसंपओगं दोसे दूरं परिच्चयइ॥ ७॥

अ. मध्यस्थसौम्य दृष्टि व्यक्ति ~~धम्म~~ धर्म का यथावस्थित विचार करता है, गुणों से संप्रयोग (संबंध) करता है और दोषों को दूर से छोड़ता है।

हि. मध्यस्थ- पक्षपात रहित, सौम्य दृष्टि- द्वेष रहित।

उदा.- सोमवसु ब्राह्मण → इसने दुर्भिक्ष में कुटुंब के लिए शूद्र का धन ग्रहण किया x उसकी शुद्धि के लिए पाटलिपुत्र गया x बीच में ब्राह्मण को अग्नि दाह करता देख सोचा मरण की विधि बिना सुंदर नहीं है x एक ~~अक्त~~ अलक्तालिंगी के मठ में गया x वह भिक्षा लेकर आया x दोनों ने पेट भर खाया x सोमवसु ने पूछा- धर्म क्या है? उसने कहा- एक गुरु के हम दो शिष्य थे, गुरु ने कहा था 'सुखं से सोना चाहिए, मिष्ट खाना, लोकप्रिय होना' मैं वैसा करता हूँ x सोमवसु ने संतोष न होने पर कहा- गुरुभाई कहाँ है? उसके बताए हुए स्थान पर गया x धर्म पूछने पर कहा- एकांतरे खाने से मिष्ट भोजी, ध्यान- अध्ययन से थककर सुख से सोना, ~~नीरीह~~ निरीह चित्त होना लोकप्रिय x संपूर्ण संतोष न होने पर पाटलिपुत्र में बड़े पंडित के पास गया x द्वारपाल ने रोका x तब तक एक आदमी सबके माँगने पर भी दातण न देता हुआ अंदर गया, फिर बाहर आकर सबको देने लगा x द्वारपाल ने पूछने पर कहा- पहले पंडित को फिर सबको देते हैं x उसके पास के घर में दो पुरुष पानी माँगने पर एक स्त्री ने एक पुरुष को हाथ से और दूसरे को लंबे चम्मच से दिया x पूछने पर द्वारपाल ने सोमवसु को कहा- पहला पति है, दूसरा परपुरुष है अतः इसने दोनों के उचित किया x

DATE ___/___/_____

सोमवसु ने सोचा- पंडित का परिवार भी नीतिमान् है × कुछ देर में एक कन्या शिबिका में आई × द्वारपाल ने पूछने पर कहा- यह पंडित की पुत्री है, राजसभा में पाद पूर्ति कर आई है × पाद पूर्ति विवेक से चित्त शुद्ध होता है। × सोमवसु ने सोचा- पिता भी पंडित है × वह पंडित के पास गया × तब एक बटुक ने कहा, मुझे स्वप्न में गुरुपत्नी को भोगने का प्रायश्चित दो × पंडित ने कहा- लोहे की गर्म पुतली का आलिंगन × वह आलिंगन कर रहा था तभी निपुत पुरुषों ने पकड़कर कहा शुद्ध है × पंडित ने सोमवसु को बताया- दो मिट्टी के गोले - एक गीला एक सूखा, दीवाल पर फेंके, गीला चिपका सूखा नीचे गिरा, सूखे गोले की तरह वह शुद्ध है × सोमवसु ने गुरु पूछे × पंडित ने वही कहा- सुख से सोना, मिष्ट खाना, त्रोकणिय, इन तीन पद के अर्थ जो जानते हैं, पालते हैं और निस्पृह हैं, वे सच्चे गुरु × पूछने पर इनका अर्थ कहा- जो रागद्वेषरहित, आरंभपरिग्रहरहित, शुभध्यान वाले हैं वे सुख से सोते हैं, जो मधुकर वृत्ति से सभी प्राणि को पीड़ारहित वापरे वे मिष्ट खाते हैं, जो परलोक के लिए सर्वजीव का उपकार करें वे त्रोकणिय, जो भक्तों धन-धान्य न इच्छे वे निस्पृह × सोमवसु को सुघोष सूरि मिले × उन्होंने भी वैसा ही अर्थ कहा × रात में वहाँ रहा × सूरि वैक्रमण सूत्र अध्ययन का स्वाध्याय करते हैं × वैक्रमण देव वहाँ आया × सूरि को कहा- आपको जो चाहिए वह कह दो × सूरि ने धर्मलाभ कहा × निस्पृहता देख सोमवसु ने वहाँ दीक्षा ली।

गा. गुणरागी गुणवंते बहु मन्नइ निग्गुणे उवेहेइ। गुणसंगहे पवत्तइ संपत्तगुणं न मइलेइ॥७॥

अ. गुणरागी गुणवान् का बहुमान करता है, निर्गुणों की उपेक्षा करता है, गुणों के संग्रह में प्रवर्तता है, प्राप्त हुए गुण को मलिन नहीं करता।

टी. (i) प्राप्त गुण सम्यग्दर्शनादि में अतिचार न लगाना, वह मलिन नहीं करना।

(ii) उदा.→ धनसार्थवाह और वंकचूल।

गा. नासइ विवेगरयणं असुहकहासंगकलुसियं मणस्स।

धम्मो विवेगसारोत्ति सक्कहो होज्ज धम्मत्थी॥८॥

अ. अशुभ कथा के संग (आसक्ति) से कलुषित मन वाले का विवेक रूपी रत्न नष्ट होता है। धर्म तो विवेक के सार रूप है, इसलिए धर्मार्थी को सत्कथ होना चाहिए।

टी. (i) विवेक → सत्-असत् वस्तु का परिज्ञान, हित-अहित का अवबोध।

(ii) विकथा - 7 उ. 1. स्त्रीकथा - स्त्री के हाव-भाव रूपादि की प्रशंसा या निंदा।

DATE ___/___/ 97

2. भक्तकथा - भोजन की निंदा या प्रशंसा।
3. देशकथा - देश के निवासी या वस्तुओं की प्रशंसा-निंदा।
4. राजकथा - राजा की प्रशंसा या निंदा।
5. मृदुकारुणिकी - श्रोता को सुनकर मृदुता और करुणा प्रगटे ऐसी कथा अर्थात् वियोग आदि दुःख से रोना कि।
6. दर्शनभेदिनी - कुतीर्थिक की ज्ञानादि के अतिशय से प्रशंसादि रूप।
7. चारित्र भेदिनी - 'वर्तमान में प्रमाद बहुत्व होने से, अतिचार प्रचुर होने से, चारित्र संभव नहीं है' इत्यादि रूप। जिससे चारित्री के भी भाव गिर जाए।

गा. अणुकूल धम्मसीलो सुसमायारो य परियणो जस्स।
एस सुपक्खो धम्मं निरंतरायं तरइ काउं ॥ 21॥

अ. अनुकूल, धर्मशील, सुसमाचार परिजन जिसका है, ऐसा यह सुपक्ष वाला अंतराय बिना कर धर्म करने के लिए समर्थ है।

वि. (i) अनुकूल - धर्म में विघ्न करने वाले न हो।
(ii) धर्मशील - जो धर्म को अभियोग नहीं अनुग्रह मानते हों।
(iii) सुसमाचार - सदाचारी, राजविरुद्धादिकृत्य न करने वाला।
(iv) अननुकूल परिजन का उदा. → पुंडवर्द्धन नगर x दिवाकर सेठ, ज्योतिर्मति सेठानी, प्रभाकर पुत्र, सभी बौद्ध x हस्तिनापुर नगर - जिनदास सेठ, पद्मश्री सेठानी, जिनमति पुत्री, जैन x प्रभाकर धंधे के लिए हस्तिनापुर गया x जिनमति से विवाह के लिए कपट श्रावक बना, फिर सच्चा श्रावक बना x विवाह कर घर आया x माता-बहन ने कहा भिक्षु को बुलाओ x वह मना करता है x माता बौद्ध भिक्षु से मंत्रित फल लेकर खिलाती है, वह बौद्ध बन जाता है x जिनमति आचार्य से चूर्ण खाती है x वमन्तरी भाग जाती है।

गा. आढवइ दीहदंसी सयलं परिणामसुंदरं कज्जं। बहुलाभमप्पकेसं सलाहणिज्जं बहुजणाणं॥ 4॥

अ. दीर्घदर्शी परिणाम से सुंदर, बहुत लाभ वाले और अल्पक्लेश वाले तथा बहुत लोगों के श्लाघनीय, ऐसे सभी कार्य प्रारंभ करता है।

वि. (i) उदा. - धनश्रेष्ठी → राजगृह नगर x धनश्रेष्ठी x सुभद्रा x पुत्र - धनपाल, धनदेव, धनगोप, धनरक्षित। x

DATE ___/___/_____

पुत्रबधू-श्री, लक्ष्मी, धना, धन्या × परीक्षा के स्वजना समक्ष 5-5 शाली चावल दिए × घोड़े, खाए, बांधकर रखे, पीयर में बोए × 5 साल बाद पूछा × श्री - कचरा वि., लक्ष्मी - पकवान वि. धना - भांडागार, धन्या - सर्वाधिकारिणी ✓ × उज्झिका, भोगवती, रक्षिता, रोहिणी।

गा. वत्थूणं गुणदोसे त्यक्खेइ अपक्खवायभावेण। पाएण विसेसन्नू उत्तमधम्मारिहो तेण ॥23॥

अ. वस्तुओं के गुणदोष को प्राय: विशेषज्ञ अपक्षपातभाव से देखता है, अत: वह उत्तम धर्म के योग्य है।

गा. वुड्ढो परिणयबुद्धी पावायारे पवत्तई नेय। वुड्ढाणुगोवि एवं संसग्गिकया गुणा जेण ॥24॥

अ. परिणतबुद्धि वाले वृद्ध पापाचार में प्रवृत्त नहीं होते। इसी प्रकार वृद्धानुग भी पाप में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि गुण संसर्ग से उत्पन्न होते हैं।

दृ.
(i) वृद्ध की बुद्धि का उदा. - एक राजा × 2 मंत्री - तरुण और वृद्ध × तरुण बोला - ये बुड्ढे की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, इसे मत रखो × परीक्षा के लिए राजा ने पूछा - जो मेरे सिर पर लात मारे, उसे क्या सजा करना? × तरुण बोला - उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहिए × 'ऐसा तो रानी ही करती है' ऐसा सोचकर वृद्ध बोला - स्त्री सिर से पैर तक उसके शरीर को सोने-रत्न के आभूषण से अलंकृत करना चाहिए।

(ii) संगत की कहावत -

उत्तमजणसंसग्गी नीयदरिद्दंपि कुणइ नीयड्ढं।
जह मेरुगिरिविलग्गं तणंपि कणयत्तणमुवेइ ॥

गा. विणओ सव्वगुणाणं मूलं सन्नाणदंसणाईणं। मोक्खस्स य ते मूलं तेण विणीओ इह पसत्थो ॥25॥

अ. सज्ज्ञानदर्शनादि सभी गुणों का विनय मूल है और मोक्ष का भी वह मूल है, इसलिए विनीत यहाँ धर्म में प्रशस्त है।

गा. बहु मन्नइ धम्मगुरुं परमु वयारित्ति तत्तबुद्धीए। तत्तो गुणाण वुड्ढी गुणारिहो तेणिह कयन्नू ॥26॥

अ. कृतज्ञ धर्मगुरु का 'परम उपकारी' इस प्रकार तत्त्वबुद्धि से बहुमान करता है। उससे गुणों की वृद्धि होती है, इसलिए यहाँ कृतज्ञ गुण के योग्य है।

नोपकारो जगत्यत्र तादृशः कोऽपि विद्यते।
यादृशी दुःखविच्छेदाद्देहिनां धर्मदेशना॥ / / 99

गा. परहियनिरओ धन्नो सम्मं विन्नायधम्मसब्भावो।
अन्नेवि ठवइ मग्गे निरीहचित्तो महासत्तो॥27॥

अ. परहित में निरत निरीह चित्तवाला, महासत्त्ववाला, सम्यक् प्रकार से धर्म के सद्भाव को जानने वाला अन्य को भी मार्ग स्थिर करता है, इसलिए धन्य होता है।

गा. लक्खेइ लद्धलक्खो सुहेण सयत्तंपि धम्मकरणीज्जं।
दक्खो सुसासणिज्जो तुरियं च सुसिक्खिओ होइ॥28॥

अ. लब्धलक्ष्य सुखपूर्वक सकल्प धर्मकरणीय को जानता है और जल्दी दक्ष, सुशासनीय और सुशिक्षित होता है।

टी. (i) लब्धलक्ष्य ⇒ लक्ष्य यानि सीखने योग्य अनुष्ठान, लक्ष्य प्राप्त कर लिया है जिसने अर्थात् जल्दी से सभी अनुष्ठान सीखने वाला।
(ii) सुखेन ⇒ क्लेश बिना, स्वयं को और सीखाने वाले को खेद उत्पन्न करे बिना।
(iii) सुशिक्षित = शिक्षापारगामी।
(iv) आर्यरक्षित उदा. - वंदनादि ज्येष्ठश्रावक को देखते ही सीख जाता है।

गा. एए इगवीसगुणा सुयाणुसारेण किंचि वक्खाया।
अरिहंते धम्मरयणं चेतुं एएहि संपन्ना॥29॥

अ. ये 21 गुण श्रुत के अनुसार किंचित् कहे गए। इन गुणों से संपन्न धर्मरत्न ग्रहण करने के योग्य हैं।

टी. (i) आख्यात ⇒ स्वरूप और फल से कहे गए।

उप. इसका अपवाद -

गा. पायद्धगुणविहीणा एएसिं मज्झिमा वरा नेया। इत्तो परेण हीणा दरिद्दपाया मुणेयव्वा॥30॥

अ. पाद और अर्ध गुणों से हीन क्रमशः मध्यम और जघन्य जानना। इनसे भी अधिक गुण से हीन दरिद्रप्राय जानना।

टी. (i) धर्म के योग्य जीव त्रु. ⇒ उत्तम - संपूर्ण गुण वाले। मध्यम - पाद प्रमाण गुणों से हीन। जघन्य - अर्ध गुण से हीन। (चतुर्थ भेद)

श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनं दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
DATE ___/___/___ कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः॥

(ii) दरिद्रप्राय → जैसे दरिद्र को रत्न खरीदने का मनोरथ भी नहीं होता, वैसे ये जीव भी धर्म के अभिलाष को भी नहीं करते।

अव. इस प्रकार होने से जो करने योग्य है, वह कहते हैं-

गा. धम्मरयणत्थिणा तो पढमं एयज्जणंमि जइयव्वं।
जं सुद्धभूमिगाए रेहइ चित्तं पवित्तं पि॥३॥

सं. इसलिए धर्मरत्न के अर्थी द्वारा पहले इन गुणों के अर्जन में यत्न किया जाना चाहिए क्योंकि पवित्र चित्र भी शुद्ध भूमिका पर शोभता है।

टी. (i) उदा.- साकेतपुर × महाबल राजा × दूत को पूछा - मेरे राज्य में राजलीला के उचित क्या नहीं है? × दूत - चित्रसभा × मंत्री को बुलाया × विमल और प्रभास चित्रकार को आधी-आधी सभा पर्दा कर दी × कहा - एक-दूसरे का काम नहीं देखना × 6 मास बाद राजा ने देखा × विमल ने सुंदर चित्र बनाया, राजा ने पुरस्कार दिया × प्रभास ने कहा अभी तो भूमि तैयार हुई है × राजा ने पर्दा हटाया × विशेष चित्रकर्म × प्रभास - ये प्रतिबिंब है × राजा - ऐसी भूमि क्यों की? प्रभास - यहाँ चित्र ज्यादा स्थिर होता है × राजा ने दुगुना पुरस्कार दिया।

अव. ये गुण सामान्य से सभी धर्म के योग्य कहे गए। स्वश्रावक धर्म के योग्य गुण-

गा. सइ एयंमि गुणोहे संजायइ भावसावयत्तंपि। तस्स पुण लक्खणाइं एयाइं भणंति सुहगुरुणो॥३५॥

अ. यह गुण समुदाय होने पर भावश्रावकत्व भी प्रगट होता है। भावश्रावक के शुभगुरु ये लक्षण कहते हैं।

टी. श्रावक के पर्याय- स्वस्व नाम स्थापना द्रव्य भाव। यहाँ भाव श्रावक का अधिकार।

(i) स्थानांग सूत्र → श्रावक के पर्याय.

(ii) 1. माता-समान= यतिकृत्यों को विचारे, स्खलित देखने पर भी निःस्नेह न हो, यतियों पर एकांत वात्सल्य वाला हो वह माता समान श्रावक।

2. भाई समान= हृदय में सस्नेह, मुनि के विनयकर्म में मंद, पराभव-संकट में सुसहाय।

3. मित्र समान= कार्य में नहीं पूछने पर मान से थोड़ा रूसने वाला, तथा स्वयं को मुनि के स्वजन से अधिक मानता।

DATE ___/___/ 101

4. सपत्नीसमान = छिद्रप्रेक्षी, प्रमाद-स्खलितों को नित्य बोलने वाला, साधुजन को तृण समान गिनने वाला।

चिंतइ जइकज्जाइं न दिट्ठखलिओवि होइ निन्नेहो। एगंतवच्छलो जइजणस्स जणणीसमोसड्ढो॥
हियए सासिणोहो चिय मुणीण ~~अक्खमु~~ विणयकम्मो। भाइसमो साहूणं पराभवे होइ सुसहाओ॥
मित्तसमाणो माणा ईसिं रूसइ मंदावइ अपुच्छिओ कज्जे। मन्नंतो अप्पाणं मुणीण अयणाउ अबहियं॥
थद्धो छिद्दप्पेही वमायखलियाणि निच्चमुच्चरइ। सड्ढो सबत्तिकप्पो साहुजणं तणसमं गणइ॥

(iii) श्रावक 4 प्र. (अन्य प्रकार से) →

1. आदर्शसमान = गुरुकथित सूत्र-अर्थ जिसके मन में अवितथ रूप से निबंधित हो।
2. पताकासमान = हवा से पताका की तरह मूढ जन से जो अविनिश्चितगुरुवचन बोला भर्मे वह पताका समान।
3. स्थाणुसमान = गीतार्थ द्वारा समझाने पर भी जो स्वीकारे हुए असद्ग्राह को न छोड़े, किंतु मुनि पर अप्रद्वेषी हो वह स्थाणु समान।
4. खरंट समान = 'तू उन्मार्गदेशक है, निन्हव है, मूढ है, मंदधर्म है' इस प्रकार सम्यक् कहते हुए को जो खरडे, गंदा करे। जैसे अशुचिद्रव्य छुपाते हुए व्यक्ति को भी गंदा करता है, इस प्रकार जो अनुशासक को भी गंदा करे वह खरंट समान।

इन 8 में से सपत्नी समान और खरंट समान श्रावक निश्चय से मिथ्यात्वी होने से द्रव्यश्रावक है।

(iv) शुभ गुरु = संविग्न सूरि।

अ. भावश्रावक के लिंग-

गा. कयवयकम्मो तह सीलवं च गुणवं च उज्जुववहारी।
गुरुसुस्सूसो पवयणकुसलो खलु सावगो भावे॥33॥

अ. भावश्रावक - कृतव्रतकर्मा[1], सशीलवान्[2], गुणवान्[3], ऋजुव्यवहारी[4], गुरुशुश्रूष[5], प्रवचनकुशल[6]।

गा. तत्थायन्नणजाणणगिण्हणपडिसेवणेसु उज्जुत्तो।
कयवयकम्मो चउहा भावत्थो तस्सिमो होइ॥34॥

DATE ___/___/ 101

4. सपत्नीसमान = छिद्र प्रेक्षी, प्रमाद-स्खलितों को नित्य बोलने वाला, साधुजन को तृण समान गिनने वाला।

चिंतइ जइकज्जाइं न दिट्ठखलिओवि होइ निन्नेहो। एगंतवच्छलो जइजणस्स जणणीसमोसड्ढो॥
हियए सासिणेहो चिय मुणीण ~~अक्खमइ~~ विणयकम्मो। भाइसमो साहूणं पराभवे होइ सुसहाओ॥
मित्तसमाणो भणइ ईसिं रूसइ मंदावरुई अपुच्छिओ कज्जे। मन्नंतो अप्पाणं मुणीण अयणाउ अब्भहियं॥
थद्धो छिद्दप्पेही पमायखलियाणि निच्चमुच्चरइ। सड्ढो सबत्तिकप्पो साहुजणं तणसमं गणइ॥

(iii) श्रावक 4 प्र. (अन्य प्रकार से) →

1. आदर्शसमान = गुरुकथित सूत्र-अर्थ जिसके मन में अतितथ रूप से विचिंतित हो।
2. पताकासमान = हवा से पताका की तरह मूढ जन से जो अविनिश्चितगुरुवचन वाला भमे वह पताका समान।
3. स्थाणु समान = गीतार्थ द्वारा समझाने पर भी जो स्वीकारे हुए असद्ग्राह को न छोड़े, किंतु मुनि पर अप्रद्वेषी हो वह स्थाणु समान।
4. खरंट समान = 'तू उन्मार्गदेशक है, निन्हव है, मूढ है, मंदधर्म है' इस प्रकार सम्यक् कहते हुए को जो खरडे, गंदा करे। जैसे अशुचिद्रव्य छुपाते हुए व्यक्ति को भी गंदा करता है, इस प्रकार जो अनुशासक को भी गंदा करे वह खरंट समान।

इन 8 में से सपत्नी समान और खरंट समान श्रावक निश्चय से मिथ्यात्वी होने से द्रव्यश्रावक है।

(iv) शुभ गुरु = संविग्न सूरि।

अ. भावश्रावक के लिंग-

गा. कयवयकम्मो तह सीलवं च गुणवं च उज्जुववहारी।
गुरुसुस्सूसो पवयणकुसलो खलु सावगो भावे॥33॥

अ. भावश्रावक - कृतव्रतकर्मा[1], सशीलवान्[2], गुणवान्[3], ऋजुव्यवहारी[4], गुरुशुश्रूषु[5], प्रवचनकुशल[6]।

गा. तत्थायन्नणजाणणगिण्हणपडिसेवणेसु उज्जुत्तो।
कयवयकम्मो चउहा भावत्थो तस्सिमो होइ॥34॥

DATE ___/___/_____

अ. उसमें कृतव्रतकर्मा आकर्णन-जानन-ग्रहण-प्रतिसेवन में उद्यत, पश्. का होता है) उसका भावार्थ यह होता है।

गा. विणयबहुमाणसारं गीयत्थाओ करेइ वयसवणं।
भंगभेयइयारे वयाण सम्मं वियाणाइ ॥३३॥

अ. विनय और बहुमान से प्रशस्त ऐसा व्रतश्रवण गीतार्थ के पास से करे, व्रतों के भंग, भेद, अतिचारों को सम्यक् रीति से जाने।

टी. (i) विनय = अभ्युत्थानादि बाह्य क्रिया रूप।
बहुमान = मानसिक प्रीति विशेष।

(ii) श्रोता की चतुर्भंगी - 1. पूर्त विनय करता है किंतु बहुमान नहीं करता।
2. ज्ञानादि बहुमान वाले होते हैं किंतु शक्ति रहित होने से विनय नहीं करते।
3. उत्यासन्न कल्याण वाला दोनों से युक्त होता है।
4. कोई गुरुकर्मी दोनों से रहित होता है, उसे गुरु को आगम कहना योग्य नहीं है।

(iii) गीत = सूत्र। अर्थ = सूत्र का व्याख्यान। गीतार्थ = सूत्रार्थ से युक्त।

(iv) भंग - दुविहं तिविहेण, दुविहं दुविहेण, दुविहं एगविहेणं, एगविहं तिविहेणं, एगविहं दुविहेणं, एक्केक्कविहेण इत्यादि।
भेद - सूक्ष्म बादरादि।
अतिचार - वधबंधादि।

गा. गिण्हइ गुरुणो मूले इत्तरमियरं व कालमह ताइं। आसेवइ थिरभावो आयंकुवसग्गसंगेवि ॥३६॥

अ. गुरु के पास इत्वर अथवा यावत्कथिक काल तक उन व्रतों को ग्रहण करता है और आतंक-उपसर्ग के संग में भी स्थिर भाव वाला होकर आसेवन करता है।

टी. पूर्वपक्ष - श्रावक देशविरति के परिणाम होने पर व्रत स्वीकारता है या न होने पर? यदि परिणाम होने पर व्रत लेता है तो गुरु के पास जाने से क्या? क्योंकि देशविरतिपरिणाम साध्य है और वह तो इसे स्वतः ही सिद्ध है। तो गुरु को श्रम-योगों में अंतरायादि दोष होंगे। यदि परिणाम न होने पर व्रत स्वीकारे तो गुरु-शिष्य दोनों को मृषावाद का दोष होता है।

क्षमी यत्कुरुते कार्यं न तत्कोपवशंगतः।
कार्यस्य साधिनी प्रज्ञा सा च क्रुद्धस्य नश्यति॥ DATE ___/___/103

उत्तर- परिणाम होने पर भी गुरु के पास जाने में व्रतों की दृढ़ता होती है, जिनाज्ञा की आराधना होती है। तथा गुरु की देशना, व्रत की बहुतम प्रतिपत्ति होती है।
परिणाम न होने पर गुरु देशना से और व्रत पालन से सरल हृदय वाले को व्रत के परिणाम अवश्य होते हैं। शठ को व्रत देने से गुरु को भी दोष लगता है, अतः शठ को व्रत न देना चाहिए। यदि छल से गुरु शठ को व्रत दे तो भी शुद्ध परिणाम होने से दोष नहीं है।

(ii) आतंक - रोग। उपसर्ग = देवादि का उपद्रव।

(iii) आतंक - आरोग्यद्विज था → उज्जयनी × देवगुप्त ब्राह्मण × नंदा पत्नी × पुत्र रोगी होने नाम रोग पड़ा × ईश्वर मुनि भिक्षा के लिए गए × देवगुप्त ने रोग का उपाय पूछा × कहा-उद्यान में आओ × उद्यान में धर्म समझाया × रोग दृढ़धर्मी हुआ, सावद्य चिकित्सा नहीं कराता × इन्द्र ने प्रशंसा की × 2 देव वैद्यरूप में आए × कहा - पूर्वाह्ण में शहद लेप, ~~सायं~~ मध्याह्न में दारु पीना, रात्री भोजन में माँस खाना × बहुत - नहीं करूँगा × स्वजन - राजा के कहने पर भी नहीं माना × देव प्रगट हुए × शरीर नीरोग किया × आरोग्यद्विज नाम पड़ा। (पृथ्वीचंद्र चरित से जानना)
उपसर्ग - कामदेव श्रावक

अब 'शीलवान्' कहते हैं -

गा. आययणं खु निसेवइ वज्जइ परगेहपवेसणमकज्जे।
निच्चमणुब्भडवेसो न भणइ सवियारवयणाइं॥ 37॥

गा. परिहरइ बालकीलं साहइ कज्जाइं महुरनीईए।
इय खलिहसीलजुओ विन्नेओ सीलवंतोत्थ॥ 38॥

स. श्रावक आयतन का ही सेवन करता है, कार्य न होने पर परगृह प्रवेश का वर्जन करता है, हमेशा अनुद्भट वेश वाला, सविकार वचन नहीं बोलता, बालक्रीड़ा का परिहार करता है, मधुर नीति से कार्यों को साधता है - इस प्रकार यहाँ 69. के शील से युक्त ~~स~~ शीलवंत जानना।

टी. (i) आयतन = धार्मिक जन का मीलन स्थान। जहाँ साधार्मिक, शीलवंत, बहुश्रुत, चारित्री मिले।
अनायतन = मिथ्यात्व, चोर, हिंस्र लोग रहते हो, जहाँ दर्शनभेदनी और चारित्रभेदनी विकथा चलती है।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यंति जन्तवः। तस्मात्तदेव वक्तव्यं किं वचनेऽपि दरिद्रता॥

DATE ___/___/_____

(ii) परगृहप्रवेश में श्रावक की सामाचारी - श्रावक को पुरुषरहित (प्रीतिवाले) परगृह में एकाकी प्रवेश न करना चाहिए, कार्य होने पर भी परिणतवय का सस्त्र सहायक लेना चाहिए।

(iii) अनुद्भट वेश - भिन्न-भिन्न देशों और कुलों में भिन्न वेश प्रचलित होता है। श्रावक जिस देश/कुल में जन्मा हो, वहाँ जो वेश शिष्ट, अभीष्ट, अनिन्दित माना जाता है, वह अनुद्भट वेष जानना।

(iv) सविकार = राग-द्वेष की उत्पत्ति के हेतुभूत। रागोत्पादक - शृंगार रस वाले। तथा धर्मविरुद्ध वचन भी श्रावक नहीं बोले।

(v) बालक्रीड़ा यानि मूर्ख लोगों के विनोद व्यापार e.g. पहेली, चउरंगादि)

(vi) 'हे सौम्य! सुंदर इस प्रकार कर, ऐसे किया जाता है' इस प्रकार स्वजन-परजन नौकर वि. को मधुर वचन से प्रवर्तए।

अब इस प्रकार शील के गुण-दोष बताते हैं -

गा. आयतणसेवणाओ दोसा खिज्जंति वड्ढए गुणोहो।
परगिहगमणंपि कलंकपंकमूलं सुसीलाणं ॥३७॥

गा. सहइ पसंतो धम्मी उब्भडवेसो न सुंदरो तस्स। सविआरजंपियाइं नूणमुईरंति रागग्गिं ॥५०॥

गा. बालिसजणकीलावि हु लिंगं मोहस्सणत्थदंडाओ। फरुसवयणाभिओगो न संगओ सुद्धधम्माणं ॥५१॥

अ. आयतन ~~की~~ के सेवन से दोष हीन होते हैं, गुण का समुदाय बढ़ता है। सुशील वालों के लिए परगृह जाना भी कलंक रूपी कीचड़ का मूल है। प्रशांत ऐसा धर्मी शोभता है, उद्भट वेश उसे सुंदर नहीं है। सविकार वचन भी निश्चय ही राग रूपी अग्नि को प्रगट करते हैं। बालिश जन की क्रीड़ा भी अनर्थदंड होने से मोह का दंड है। कठोर वचन से आज्ञा करना भी शुद्ध धर्म वाले को संगत नहीं है।

(i) कलंकपंक मूल → अभ्याख्यान की प्राप्ति का हेतु।

(ii) अनर्थदंड → निष्फल पापारंभ की प्रवृत्ति होने से मूर्ख लोगों की क्रीड़ा अनर्थ दंड है।

(iii) शुद्ध धर्म वाले को कठोर वचन से आज्ञा करना उचित नहीं है क्योंकि उससे धर्म की हानि होती है। धर्महानि - 'क्रोधे क्रोड़ पूरव तणुं...' / धर्म लाघव भी होता है।

(iv) सत्य भी कठोर वचन बोलने पर प्रायश्चित्त - प्रहाशतक श्रावक उदा. -
राजगृह नगर × प्रहाशतक श्रावक × रेवती वि. 13 पत्नी × 12 व्रतधारी × रेवती च अप्र-मांस में गृद्ध ×

DATE __/__/105

एक बार अमारी घोषित करी x भाँस न मिलने पर वह गोकुल से रोज मांस मँगाती x १६ वर्ष बाद पुत्र को सौंपकर महाशतक उपासक प्रतिमा स्वीकारता है x रेवती उपसर्ग करने पर भी निश्चलता से सहन करता है x उसे अवधिज्ञान प्रगट हुआ → पूर्व-पश्चिम-दक्षिण में लवणसमुद्र में १००० यो., उत्तर में लघु हिमवंत तक, नीचे रत्नप्रभा में लोलुक नरक तक x एक बार रेवती ने पुनः उपसर्ग किया तो अवधि से महाशतक ने उसके पापाचार देखे तथा कठोरता से कहा- हे पापे! अब कितने पाप करेगी। तू ७वें दिन मरकर नरक जाने वाली है। मृत्यु सुन वह डर गई x उस दिन भगवान् वीर वहीं विचरते थे x उन्होंने गौतमस्वामी को कहा- तू जा महाशतक श्रावक के वहाँ और उसे कह कि साधु या श्रावक को सत्य भी कठोर वचन बोलना योग्य नहीं, विशेष से तुझे जिसने अंतपच्चक्खाण किया है। इसलिए तू प्रायश्चित्त ले x गौतमस्वामी गए x महाशतक ने प्रायश्चित्त लिया तथा मरकर सौधर्म देवलोक में अरुणाभ विमान में ५ प. आयु वाला देव बना। (उपासकदशांग)

अब. गुणवान् →

गा. जइवि गुणा बहुरूवा तहवि हु पंचहि गुणेहि गुणवंतो।
इह मुणिवरेहि भणिओ सरूवमेसिं निसामेहि॥५२॥

अ. यद्यपि गुण बहुत प्रकार के होते हैं तो भी यहाँ श्रावकधर्म में मुनिवरों द्वारा ५ गुणों से गुणवान् कहा गया है। इनका स्वरूप सुनो।

गा. सज्झाए करणंमि य विणयम्मि य निच्चमेव उज्जुत्तो।
सव्वत्थणाभिनिवेसो वहइ रुइं सुट्ठु जिणवयणे॥५३॥

अ. श्रावक स्वाध्याय[1] में, करण[2] (अनुष्ठान) में और विनय[3] में नित्य उद्युक्त होता है, सर्वत्र अनभिनिवेश[4] वाला होता है। जिनवचन[5] में सम्यक् प्रकार से रुचि वहन करता है।

टी.
(i) शोभनं अध्ययनं स्वाध्यायः। स्वेन आत्मना अध्यायः स्वाध्यायः।
(ii) अभिनिवेश - कदाग्रह। अनभिनिवेश = प्रज्ञापनीय।

उत. गुणों के भावार्थ-

गा. पढणाईसज्झायं वेरग्गानिबंधणं कुणइ विहिणा। तबनियमवंदणाईकरणंमि य निच्चमुज्जमई॥५५॥

DATE ___/___/_____

गा. अब्भुट्ठाणाईयं विणयं नियमा पउंजइ गुणीणं।
अणभिनिवेसो गीयत्थभासियं नन्नहा मुणइ॥५५॥

गा. सवणकरणेसु इच्छा होइ रुई सद्दहाणसंजुत्ता।
एईए विणा कत्तो सुद्धी सम्मत्तरयणस्स॥५६॥

अ. पठनश्रावक वैराग्य के कारण रूप पठनादि स्वाध्याय विधि पूर्वक करता है और तप-नियम-वंदनादि अनुष्ठान में नित्य उद्यम करता है। गुणियों को अभ्युत्थान आदि विनय अवश्य करता है। अभिनिवेश रहित श्रावक गीतार्थ का कहा हुआ अन्यथा नहीं मानता। श्रवण और करण में श्रद्धा से युक्त इच्छा रुचि है। इस रुचि के बिना सम्यक्त्व रूपी रत्न की शुद्धि कैसे होती है?

टी. (i) पठन = नया श्रुत पढ़ना। आदि से ६ग. का स्वाध्याय।
(ii) विधि पूर्वक - विनय और बहुमान पूर्वक।
(iii) नियम - साधु की सेवा के बाद पारणा करे या सोच किए हुए साधु को घृतदानादि।
(iv) विनयमूलत्वाद् गुणपरंपरायाः ⇒ गुणपरंपरा विनय के मूल वाली है।
(v) अभिनिवेश - मोह के उदय से होता है। मोहोदय को रोकने का साधन - पारतंत्र्य न मोहोदयताभावे स्वाग्रहो जायते क्वचित्। गुणवत्पारतन्त्र्यं हि तदनुत्कर्षसाधनम्॥
(vi) इच्छा = तीव्र अभिलाष।
(vii) श्रद्धानसंयुक्त = प्रतीति से युक्त।
(viii) अन्य आचार्य - सूत्ररुचि, अर्थरुचि, करणरुचि, अनभिनिवेशरुचि, अनिह्नवोत्साहता। इनका उपरोक्त ६गुणों में समावेश।
(ix) मात्र इच्छा से फल प्राप्ति - उदा.
कृत्यपुत्र × २ पुत्र जन्म सुजस यश सुयश × धर्मसूरि के पास प्रतिबोध × माता-पिता ने कहा कोई भी एक दीक्षा लो सुयश दीक्षा ली × यश ने अनिच्छा से शादी की × मातापिता की मृत्यु के बाद पत्नी को समझाया, नहीं मानी × सुयश मुनि आए × पत्नी ने गोचरी वोराई × यश खेत पर गया था × पत्नी ने कहा भोजन लेकर जाना है किंतु बीच में नदी × मुनि - यदि मुनि ने १२ साल में एकबार भी वापरा न हो तो मुझे रस्ता दे × पत्नी गई × पति जिमे × वापस आने में यश - यदि पति ने मेरे साथ एक बार भी भोग न भोगे हों तो मार्ग दे × घर आकर मुनि को रहस्य पूछा - आसक्ति बिना यदि शुद्ध आहार वापरे तो मुनि

उपवासी, ब्रह्मचर्य के मनोरथ वाला तेरे अनुरोध से भोग करता है तो भी अभोग x पत्नी ने सोचा - अयश को मैंने बहुत अंतराय किया x दोनों ने दीक्षा ली।

गा. उजुववहारो चउहा जहत्थभणणं अवंचिगा किरिया।
हुंतावायपगासण मेत्तीभावो य सब्भावा ॥५७॥

अ. ऋजुव्यवहार ५प्र. - यथार्थ कथन, अवंचक क्रिया, संभवित अपाय का प्रकाशन और सद्भाव से मैत्री।

टी (i) यथार्थ कथन - धर्म में, क्रय-विक्रय में, साक्षी में, राजव्यवहारादि में अविसंवादी वचन बोलना।

(ii) अवंचिका क्रिया - दूसरे के लिए असंकर के हेतु रूप क्रिया।

(iii) 'हुंतावाय' की जगह पाठान्तर 'हुंतोवाय' = संभवित उपाय का प्रकाशन, धर्म-अर्थ, काम मोक्ष विषयक।

(iv) सद्भाव से मैत्री - निष्कपट मैत्री।

गा. अन्नहभणणाईसुं अबोहिबीयं परस्स नियमेण। तत्तो भवपरिवुड्ढी ता होज्जा
उज्जुववहारी ॥५८॥

अ. अन्यथाकथनादि में दूसरे को अबोधिबीज अवश्य होता है। उससे भव की वृद्धि होती है इसलिए ऋजुव्यवहारी होना चाहिए।

टी (i) कोई श्रावक अन्यथा कहे कि 'जैन धर्म को धिक्कार हो' इत्यादि तो धर्म निंदा से दूसरे मिथ्यात्वी को धर्म परमदुर्लभ बनता है।

(ii) दृ.- धर्मनंद - लोभनंद x राजा के सेवक से लोह की कुश लेना - लोभनंद x मित्र के यहाँ गया x पुत्र को ने मना किया x झगड़े में गोबर साफ होने से पता चला कि वो सोने की है। राजा ने लोभ नंद को पकड़ा।

गा. सेवाए कारणेण य संपायणभावओ गुरुजणस्स।
सुस्सूसणं कुणंतो गुरुसुस्सूसो हवइ चउहा ॥५९॥

अ. गुरु शुश्रूषा ५प्र. - सेवा से, कराने से, गुरु को संपादन भाव से और भाव से।

DATE ___/___/_____

टी. (i) सेवा - पर्युपासना। कारण - अन्य जन को सेवा में प्रवर्तना। संपादन - औषधादि गुरु को देना। भाव - चित्त का बहुमान।

गा. सेवति कालंमि गुरुं अकुणंतो ज्झाणजोगवाघायं।
सय वन्नवायकरणा अन्नेवि पवत्तई तत्थ ॥७०॥

अ. काल में ध्यान और योग का व्याघात करे बिना श्रावक गुरु की सेवा करता है। हमेशा वर्णवाद करने से अन्यों को भी उस सेवा में प्रवृत्त करता है।

टी. (ii) ध्यान - धर्मध्यानादि। योग - प्रत्युपेक्षण भोजनादि। व्याघात - अंतराय

गा. ओसहभेसज्जाई सओ अ परओ य संपणामेइ।
सइ बहुमन्नेइ गुरुं भावं चणुवत्तए तस्स ॥७१॥

अ. औषधभेषजादि स्वतः अथवा दूसरे से संपादन करे। हमेशा गुरु का बहुमान करे और उनके भाव का अनुवर्तन करे।

टी. (i) औषध = केवल द्रव्य अथवा बाहर उपयोगी।
भैषज्य = संयोगिक अथवा अंदर वापरने की।
(ii) जो देइ ओसहाइं मुणीण मणवयणकायगुत्ताणं। सो सुहभावविभवो भवे भवे होइ नीरोगो
(iii) बहुमान - मन की प्रीति से उनकी प्रशंसा करे।
(iv) भाव = चेतोवृत्ति। अनुवर्तन = अनुकूल व्यवहार करे।
(v) उदा. संप्रति राजा - कौशांबी x सुहस्ति सूरि x भिखारी की दीक्षा x मृत्यु xx पाटलिपुत्र x चंद्रगुप्त - बिंदुसार - अशोकश्री - कुणाल - संप्रति x कुणाल अंधा हुआ x संगीत से पिता को खुश कर राज्य मांगा x संप्रति द्वारा शासन प्रभावना, अनार्य देश में विहार, दानशाला में बढ़ा अन्न नौकर को मूल्य देकर दिलाना वि।

गा. सुत्ते अत्थे य तहा उस्सग्गववायभाववववहारे।
जो कुसलत्तं पत्तो पवयणकुसलो तओ वुच्चा ॥७२॥

अ. सूत्र में, अर्थ में तथा उत्सर्ग - अपवाद में, भाव - व्यवहार में जो कुशलत्व को प्राप्त है, वह प्रवचनकुशल कहा जाता है।

(i) प्रवचन = आगम। सूत्रादि भेद से प्रवचन 6 प्र. का है अतः उसकी उपाधि से प्रवचनकुशल भी 6 प्र. का है।

(ii) उत्सर्ग = सामान्य वचन। अपवाद = विशेष वचन।

(iii) भाव = निश्चय नय का अभिप्राय। व्यवहार = गीतार्थ द्वारा आचरित।

गा. उचियमहिज्जइ सुत्तं सुणइ तयत्थं तहा सुतित्थंमि।
उस्सग्गववायाणं विसयविभागं वियाणइ ॥ ८३॥

गा. वहइ सइ पक्खवायं विहिसारे सव्वधम्मणुट्ठाणे।
देसट्ठादणुरूवं जाणइ गीयत्थववहारं ॥ ८४॥

अ. श्रावक उचित सूत्र पढ़ता है तथा सुतीर्थ में (सुगुरु के पास) उसके अर्थ सुनता है। उत्सर्ग-अपवादों के विषय विभाग को जानता है। हमेशा विधिसार रूप धर्म अनुष्ठान में पक्षपात रखता है। देश-काल के अनुरूप गीतार्थ के व्यवहार को जानता है।

(i) उचित - श्रावक भूमिका के योग्य।

(ii) ~~भाव~~ भाव - निश्चय से विधि पूर्वक अनुष्ठान में पक्षपात ~~करे~~ → अन्य विधिकारी का बहुमान, स्वयं यथाशक्ति विधि सेवे, सामर्थ्य न होने पर भी विधि की आराधना के मनोरथों को न छोड़े।

(iii) यह तो उपलक्षण है। जो जीवपुद्गलादि सभी भावों में कुशल हो वह प्रवचनकुशल
उदा. पद्मशेखर राजा → पृथ्वीपुर × पद्मशेखर राजा × परम श्रावक × राज्य में सबको जैन बनाया, एक श्रेष्ठिपुत्र नहीं मानता × वह कहता है - इंद्रिय एकाग्र नहीं होती और मरने से सुख मिलता है × राजा उसे आभूषण चोरी में फँसाकर मृत्युदंड देता है × वह डरता हुआ राजा को छोड़ने का कहता है × राजा - मरने से सुख मिलेगा, तुझे तो सुख चाहिए ना! × वह पैर में गिरकर माफी माँगता है × राजा उसे तैलपात्र देकर नगर में घुमाता है × वापस आता है तब राजा - इंद्रिय एकाग्र हुई या नहीं × वह माफी माँगकर श्रावक बनता है। इस प्रकार प्रवचन कुशल राजा।

गा. एसो पवयणकुसलो छव्विहो सुणिवरेहि निद्दिट्ठो।
किरियागयाइं छच्चिय लिंगाइं भावसड्ढस्स ॥ ८५॥

DATE ___/___/_____

अ. यह प्रवचनकुशल छः भेद बोला मुनिवरों द्वारा कहा गया है। भावश्रावक के क्रियागत लक्षण 6 ही होते हैं।

प्र. क्रियागत के भावगत और कौन से लिंग होते हैं -

गा. भावगयाइं सत्तरस मुणिणो एयस्स बिंति लिंगाइं।
जाणियजिणमयसारा पुव्वायरिया जओ आहु ॥56॥

अ. आचार्य इस ~~भा~~भावश्रावक के भावगत 17 लिंग कहते हैं। क्योंकि जिन्होंने जिनमत के सार को जाना है, ऐसे पूर्वाचार्य कहते हैं -

टी. (i) पूर्वाचार्य से स्वबुद्धि का परिहार किया।

गा. इत्थिंदियत्थसंसारविसयआरंभगेहदंसणओ। गड्डरिगाइपवाहे पुरस्सरं आगमपवित्ती ॥57॥
गा. दाणाइ जहासत्ती पवत्तणं विहिअरत्तदुट्ठे अ। मज्झत्थमसंबद्धे परत्थकामोवभोगी य ॥58॥
गा. वेसा इव गिहवासं पालइ सत्तरसपयनिबद्धं तु।
भावगयभावसावगत्तलक्खणमेयं समासेण ॥59॥

अ. स्त्री[1], इंद्रिय[2], अर्थ[3], संसार[4], विषय[5], आरंभ[6], गेह[7], दर्शन में[8], गड्डरिकादिप्रवाह में[9], आगम[10] पूर्वक प्रवृत्ति, दानादि[11] में यथाशक्ति प्रवर्तन, विधिक[12], अरक्तद्विष्ट[13], मध्यस्थ[14], असंबद्ध[15], परार्थकामोपभोगी[16], वेश्या[17] की तरह गृहवास को पाले, ये भावश्रावक के भावगत लक्षण संक्षेप से 6 कहे।

टी. (i) 'दर्शन' पद में सप्तमी अर्थ में तस् प्रत्यय।
(ii) विधिक = धर्मानुष्ठान करते हुए शरमाए नहीं।
अरक्तद्विष्ट - सांसारिक भावों में।
मध्यस्थ - धर्म में।
असंबद्ध = धन स्वजनादि में प्रतिबंध रहित।
परार्थकामोपभोगी = पर के अनुरोध से ही काम (शब्द, रूप) और भोग (गंध, रस, स्पर्श) में प्रवर्तता है।
वेश्या की तरह गृहवास पालन - 'आज अथवा कल इसे छोड़ूँ' इस प्रकार विचारते हुए घर का पालन करे।

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे। नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थो दुःखभाजनम्॥
पादमापान्निधिं कुर्यात् पादं वित्ताय खण्डयेत्। DATE / / 111
धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्त्तव्यपोषणे॥

गा. इत्थीमणत्थभवणं चलचित्तं नरयवत्तिणीभूयं।
जाणंतो हियकामी वसवत्ती होइ न हु तीसे॥६०॥

अ. स्त्री अनर्थ का भवन है, चल चित्त वाली है, नरक के मार्ग समान है, इस प्रकार जानता हुआ हित का कामी इसका वशवर्त्ती न हो।

टी. (i) अनर्थभवन - दोषों का आश्रयस्थान।
अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता। अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः
(ii) चलचित्त - अन्य - अन्य की अभिलाषिणी।

गा. इंदियचवलतुरंगे दोग्गइमग्गाणुधाविरे निच्चं।
भाविय भवस्सरूवो रुंभइ सन्नाणरस्सीहिं॥६१॥

अ. दुर्गति के मार्ग पर दौड़ने के स्वभाव वाले ऐसे इंद्रिय रूपी चपल घोड़ों को श्रावक संसार के स्वरूप को भावित किया हुआ श्रावक हमेशा सज्ज्ञान रूपी लगाम से रोकता है।

गा. सयलाणत्थनिमित्तं आयासकिलेसकारणमसारं।
नाऊण धणं धीरो न हु लुब्भइ तंमि तणुयंपि॥६२॥

अ. धन को सकल अनर्थों का निमित्त, आयास और क्लेश का कारण, असार जानकर धीर श्रावक उसमें तनिक भी आसक्त नहीं होता।

टी. (i) सकलानर्थनिमित्त - सभी दुःखों का कारण।
(ii) अर्थमाम आयास = चित्तखेद। क्लेश = शरीर का परिश्रम। eg. कोई नाश्य, कोई शिल्प इत्यादि सभी परिश्रम करते हैं।
(iii) असार - सार फल का संपादन न करने से। eg. व्याधि और मृत्यु को रोक नहीं सकता, जन्मांतर में आता नहीं, इत्यादि।
(iv) उदा. धम्मण सेठ।
(v) भावश्रावक अन्याय से पैसा नहीं कमाता। पैसे में अतितृष्णावाला नहीं होता।

DATE ___/___/_____

गा. दुरूवं दुक्खफलं दुहाणुबन्धिं विडंबणारूवं संसारमसारं जाणिऊण न रइं तहिं कुणइ ॥६३॥

अ. संसार को दुःख रूप, दुःखफल, दुःखानुबंधी, विडंबना रूप और असार जानकर श्रावक उसमें रति न करे।

टी. (i) दुःख रूप - दुःख स्वभाव वाला - 'जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा...।'

(ii) दुःख फल - जन्मान्तर में भी नरकादि दुःख होने से।

(iii) दुःखानुबंधी - दुःख के संतान करने से अर्थात् जन्म-जरा-मरण की परंपरा वाला।

(iv) विडंबना - जीवों के विचित्र रूप वाला - 'देवो नेरइ उत्ति य...'।

(v) असार - सुख रूप सार का अभाव होने से।

गा. खणमेत्तसुहे विसए विसोवमाणे सयावि मन्नंतो।
तेसु न करेइ गिद्धिं भवभीरू मुणियतत्तत्थो ॥६४॥

अ. भवभीरू और तत्त्वार्थ को जाना हुआ श्रावक क्षणमात्र सुख वाले विषयों को विष की उपमा वाला मानता हुआ हमेशा उनमें गृद्धि नहीं करता।

टी. (i) जैसे विष खाने पर मधुर स्वाद देता है, फिर परिणाम में प्राणनाश करता है; ऐसे ही ये विषय भी हैं।

गा. वज्जइ तिव्वारंभं कुणइ अकामो अनिव्वहंतो उ।
थुणइ निरारंभजणं दयालुओ सव्वजीवेसु ॥६५॥

अ. सर्व जीवों में दयालु श्रावक तीव्रारंभ का वर्जन करता है, यदि निर्वहन न हो तो अनिच्छा से तीव्रारंभ करता है, निरारंभ लोगों की स्तुति करता है।

टी. (i) तु शब्द विशेष अर्थ में - वह तीव्रारंभ गुरु-लाघव के विचार पूर्वक करता है।

(ii) निरारंभजन - साधु, मुनि।

गा. गिहवासं पासं पिव मन्नंतो वसइ दुक्खिओ तंमि।
चारित्तमोहणिज्जं निज्जिणिउं उज्जमं कुणइ ॥६६॥

अ. गृहवास को पाश की तरह मानता, उसमें दुःखी होकर रहे और चारित्र मोहनीय कर्म की निर्जरा के लिए उद्यम करे।

टी. (i) जैसे पाश में फँसा हुआ पक्षी उड़ने में समर्थ नहीं होता और वहाँ रहने को कष्ट मानता है, वैसे ही श्रावक संसार में रहे।

(ii) चारित्रमोहनीय की निर्जरा का उद्यम- दानसन्मान विनयादि में प्रवर्ते, अप्रीतिनिंदा न करे।

गा. आत्थिक्कभावकलिओ पभावणा वन्नवायमाइहिं।
गुरुभत्तिजुओ धीमं धरेइ सइ दंसणं विमलं॥67॥

अ. आस्तिक्यभाव से युक्त, प्रभावना-वर्णवादादि द्वारा गुरुभक्ति से युक्त, धीमान् श्रावक सदा निर्मल दर्शन को धारण करता है।

टी. (i) प्रभावना यानि शासन प्रभावना करे या कराए।
वर्णवाद - प्रशंसा।
आदि से चैत्य, तीर्थयात्रादि।

गा. गड्डरिगपवाहेणं गयाणुगइयं जणं वियाणंतो।
परिहरइ लोगसन्नं सुसमिक्खियकारओ धीरो॥68॥

अ. लोगों को भेड़ के प्रवाह से गतानुगतिक जानता हुआ, समीक्षितकारक और धीर श्रावक लोकसंज्ञा को परिहरे।

टी. (i) गड्डरिक = एडक = भेड़। उनका प्रवाह = एक के पीछे एक चलना।
द्वारगाथा 5 में 'गड्डरिकादि' में आदि शब्द से कीटकादि का ग्रहण करना।
(ii) गतानुगतिक - बिचारे बिना चलने वाला।
(iii) समीक्षितकारक = सच्ची तरह परीक्षा कर कार्य करने वाला।
(iv) धीर = धीमान्।
(v) उदा.- वाणारसी नगरी x महोत्सव में गंगा स्नान x एक विप्र ने तांबे का भाजन चोरों के डर से मिट्टी में गाड़कर जानने के लिए ऊपर एक मिट्टी का ढेर किया x गंगा में गया x वापस आया तो बहुत सारे मिट्टी के ढेर देखे x पूछा - क्यों मिट्टी के ढेर किए x तो सब एक-दूसरे को बताते हुए परंपरा से उसकी बारी आई x उसने कहा - यह विधि नहीं है, मैंने तो भाजन के लिए पुंज किया था।

DATE ___/___/_____

गा. नत्थि परत्थगमग्गो पमाणमन्नं जिणागमं मोत्तुं।
आगमपुरस्सरं चिय करेइ तो सव्वकिच्चाइं ॥६७॥

अ. परलोक मार्ग में जिनागम को छोड़कर अन्य कोई प्रमाण नहीं है इसलिए श्रावक सभी कृत्यों को आगम पूर्वक ही करता है।

गा. अनिगूहिंतो सत्तिं आयाबाहाए जइ बहुं कुणइ।
आयरइ तहा सुमई दाणाइचउव्विहं धम्मं ॥७०॥

अ. अच्छी मति वाला श्रावक दानादि चार प्र. के धर्म को वह उस प्रकार आचरता है, जिस प्रकार शक्ति को गोपे नहीं और स्वयं को बाधा बिना बहुत काल तक कर सके।

वि. (i) आत्माबाधा - स्वजन और परिजन की पीड़ा को छोड़ता।

(ii) बहुतकाल - धन होने पर अतितृष्णा वाला न हो और धन न होने पर अतिउदार न हो अर्थात् बहुत काल तक बाधा बिना दान करता है।

(iii) सुमति - पारिणामिकी बुद्धि वाला।

गा. हियमणवज्जं किरियं चिंतामणिरयणदुल्लहं लहिउं।
सम्मं समायरंतो न हु लज्जइ मुद्धहसिओवि ॥७१॥

अ. चिंतामणि रत्न समान दुर्लभ, हितकारी, अनवद्य ऐसी क्रिया को प्राप्त कर सम्यक् आचरता हुआ मूर्खों द्वारा हँसी उड़ाने पर भी लज्जा न पावे।

वि. (i) उदा. - हस्तिनापुर x नागदेव सेठ x जयदेव पुत्र x 12 वर्ष पढ़ा x चिंतामणि रत्न ढूंढने मना करने पर भी निकला x बहुत घूमा x एक गाँव के वृद्ध ने कहा - अमुक देश में मणिपति वहाँ मिलेगा x वहाँ एक चरवाहा रत्न से खेलता था x बहाने बनाकर कुछ मांगा x नहीं दिया x फिर प्रभात सेवा पूजा विधि बताई x वह चरवाहा दुर्भागी होने से फेंक देता है x वह लेकर घर आया और सुखी हुआ। इस प्रकार दुर्लभ धर्म प्राप्त कर आराधना चाहिए

(ii) उदा. - विश्वपुरी x विजयंकर राजा x दत्त सेठ x कर्म से दरिद्र हुआ x कोई उधार के पैसे नहीं देता x पिता के कथनानुसार घर के देश में से तांबे का पट्ट निकाला x उस पर लिखा - गौतम द्वीप पर गाएँ हैं, उनके गोबर को जलाने से रत्न मिलते हैं, वे गाएँ मनुष्य को मारती हैं अतः जीर्णकरीष वहाँ नीचे पाथरना, दिन में मृदु स्पर्श से गाए आएगी और रात को जाएगी अतः रात को गोबर इकट्ठा करना x

DATE ___/___/115

दत्त ने सोचा वहाँ जाने के पैसे कैसे लाऊँ? x फिर पागल पन का नाटक किया तो राजा ने लाख मोहर दी x जीर्णकरीष इकट्ठा कर जहाज में भरा x सब लोग बहुत हँसते हैं x वहाँ गोबर लाया तब भी राजा वि. बहुत हँसते हैं किंतु वह शर्माता नहीं है x गोबर जलाने से रत्न मिले x इससे जैसा सेठ हो गया।

गा. देहट्ठिइ निबंधणधणसयणाहारगेहमाईसु। निवसइ अरत्तदुट्ठो संसारगएसु भावेसु ॥72॥

अ. देह को टिकाने के कारण धन, स्वजन, आहार, गृहादि संसार में रहे भाव (पदार्थों) में श्रावक अरक्तद्विष्ट रहता है।

गा. उवसमसारवियारो वाहिज्जइ नेय रागदोसेहिं। मज्झत्थो हियकामी असग्गहं सव्वहा चयइ ॥73॥

अ. श्रावक उपशम प्रधान विचार वाला होता है क्योंकि वह कभी राग-द्वेष द्वारा बाधित नहीं होता। वह मध्यस्थ और हितकामी होता है, असद्ग्राह को सर्व प्रकार से छोड़ता है।

टी. (i) उदा. - गोष्ठामाहिल और रोहगुप्तादि।

गा. भावेंतो खणवरयं खणभंगुरयं समत्थवत्थूणं।
संबद्धोवि धणाइसु वज्जइ पडिबंधसंबंधं ॥74॥

अ. सभी वस्तुओं की क्षणभंगुरता को सतत विचारता श्रावक धनादि में जुड़ा हुआ भी प्रतिबंध के संबंध वर्जन करता है।

गा. संसारविरत्तमणो भोगुवभोगा न तित्तिहेउत्ति।
नाउं पराणुरोहा पवत्तई कामभोगेसु ॥75॥

अ. संसार से विरक्त मन वाला श्रावक 'भोग-उपभोग तृप्ति के हेतु नहीं है' इस प्रकार जानकर दूसरे के अनुरोध से कामभोगों में प्रवृत्त होता है।

टी. (i) परानुरोध - दाक्षिण्यतादि।
(ii) उदा. - वज्रस्वामी के पिता धनगिरि।

गा. वेसत्व निरासंसो अज्जं कल्लं च यामि चिंतंतो।
परकीयं पिव पालइ गेहावासं सिढिलभावो ॥76॥

DATE __/__/____

अ. श्रावक वेश्या की तरह निराशंस, 'आज या कल छोड़ूँ' ऐसा विचारता हुआ, दूसरे के घर की तरह शिथिलभाव वाला होकर गृहवास का पालन करता है।

टी. (i) निराशंस = परित्यक्तास्थाबुद्धि।

(ii) उदा. तगरा नगरी × वसु सेठ × 2 पुत्र - सेन, सिंह × सेन ने दीक्षा ली किंतु प्रमाद में पड़ा × सिंह शुद्ध श्रामण्य के मनोरथ सहित घर में रहा × एक बार दोनों मिले × सहसा बिजली गिरने से दोनों मरे × वेश्या को वसु ने गति पूछी - सेन व्यंतर बना, सिंह सौधर्मकल्प में।

(iii) प्र. स्त्री - इंद्रिय - विषय, अरक्तद्विष्ट - मध्यस्थ - असंबद्ध और गृह - गृहवास का एक विषय होने से अर्थभेद नहीं होता, तो पुनः क्यों कहा? उ. देशविरते में एक विषय में भी परिणाम अलग-अलग हो सकते हैं तथा एक परिणाम में भी विषय अलग होक सकते हैं अतः पुनरुक्त नहीं है।

भ. उपसंहार और अन्य प्रकरण का संबंध -

गा. इय सतरसगुणजुत्तो जिणागमे भावसावगो भणिओ।
एस उण कुसलजोगा लहइ लहु भावसाहुत्तं ॥77॥

अ. जिनागम में इस प्रकार 17 गुण युक्त भावश्रावक कहा गया है। वह कुशल योग से जल्दी भावसाधुत्व को प्राप्त करता है।

टी. (i) पुनः शब्द विशेषणार्थ - यही भाव श्रावक द्रव्यसाधु है।

अ. भावसाधुत्व के लिंग -

गा. एयस्स उ लिंगाइं सयला मग्गाणुसारिणो किरिया।
सद्धा परा धम्मे पन्नवणिज्जत्तमुज्जुभावा ॥78॥

गा. किरियासु अप्पमाओ आरंभो सक्कणिज्जअणुट्ठाणे।
गुरुओ गुणाणुरागो गुरुआणाराहणं परमं ॥79॥

अ. इन भावसाधु के लिंग - सभी मार्गानुसारी क्रिया[1], धर्म में परम[2] श्रद्धा, प्रज्ञापनीयत्व[3] ऋजुभाव होने से, क्रियाओं में अप्रमाद[4], शक्य अनुष्ठान में आरंभ[5], गुरु गुणानुराग[6], श्रेष्ठ गुर्वाज्ञाराधन[7]।

टी. (i) मार्गानुसारी = मोक्षमार्ग में आने वाली।

DATE ___/___/ 17

(iii) प्रज्ञापनीयत्व = सद्बोध का जनकत्व।

ग. मग्गो आगमनीई अहवा संविग्गबहुजणाइन्नो।
उभयाणुसारिणी जा सा मग्गानुसारिणी किरिया॥६०॥

अ. मार्ग आगमनीति है अथवा संविग्न बहुजन द्वारा आचरित क्रिया है। इन दोनों को अनुसरने वाली जो क्रिया है, वह मार्गानुसारी क्रिया है।

ब (i) मार्ग - मृग्यते ऽभिमतस्थानलाभाय पुरुषैर्यः स = जो पुरुषों द्वारा इच्छित स्थान की प्राप्ति के लिए ढूंढा जाए। वह २प्र. - द्रव्य = गाँवादि का, भाव = मोक्ष का। यहाँ मोक्षमार्ग का अधिकार है।

(ii) वह मोक्षमार्ग २ रूप में है - १. आगमनीति = आगम में कथित आचार। २. संविग्न बहुजनाचीर्ण। दोनों कारण में कार्य के उपचार से मोक्षमार्ग है।

(iii) संविग्न = मोक्षाभिलाषी = गीतार्थ।

(iv) 'संविग्न' पद का ग्रहण - ~~असं~~ 'असंविग्न बहुत जन द्वारा आचरित की अप्रमाणता। 'बहुजन' का ग्रहण - एक संविग्न अनाभोग-अनवबोधादि से कभी वितथ आचरण भी कर सकता है, उसकी अप्रमाणता दर्शाने के लिए। ब
इसलिए कहा 'स उभयाणुसारिणी' - जो क्रिया आगम से अबाधित है और जो संविग्न व्यवहार रूप है वह मार्गानुसारी क्रिया है।

(v) १. आगम ही मार्ग कहना चाहिए। बहुजनाचीर्ण को मार्ग कहना अन्यशास्त्र (a) के विरोध से और आगम (b) की अप्रमाणतापत्ति से अयुक्त है। तथा आगम को तो केवली भी अप्रमाण नहीं करते - छद्मस्थ अशुद्ध गोचरी आगमानुसार लाए, तो भी केवली वापरते हैं। तथा आचार को प्रमाण करने में आगम की लघुता होती है।
२. संविग्न गीतार्थ आगमनिरपेक्ष आचरण नहीं करते। तथा अन्य (a) शास्त्र तो असंविग्न द्वारा असमंजस में प्रवृत्त है, अतः इनसे विरोध नहीं होगा। तथा आगम (b) की अप्रमाणता की आपत्ति भी नहीं होती किंतु आगम की प्रतिष्ठा होती है क्योंकि आगम में ५ व्य. के व्यवहार दिखाए हैं - आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीत। यहाँ जीत व्यवहार आचरण रूप होने से आगम की प्रतिष्ठा होती है।

DATE __/__/____

गा. अन्नह भणियंपि सुए किंचि कारणावेक्खं।
आइन्नमन्नह च्चिय दीसइ संविग्गगीएहिं ॥81॥

हि. कारणादि कारणों की अपेक्षा वाली कोई वस्तु ~~सूत्र~~ सूत्र में अन्य प्रकार से कही हुई होने पर भी संविग्नगीतार्थों द्वारा अन्यथा ही आचीर्ण देखी जाती है।

उदा. उदाहरण -

गा. कप्पाणं पाउरणं अग्गोयरचाय ओत्तियाभिक्खा।
ओवग्गहियकडाहयतुंबयमुहदाणदोराई ॥82॥

अ. कल्पों का प्रावरण, अग्रावतार त्याग, झोलिका, भिक्षा, औपग्रहिक, कटाहक, तुंबक, मुखदान दोरा वि.।

टी. (i) कल्प - कारण बिना गोचरी वि. साधु को स्कंध पर न ही रखना चाहिए।
(ii) अग्रावतार त्याग - चोलपट्टा बांधना।
(iii) झोलि - पहले हाथ में लेते थे।
(iv) भिक्षा - पहले बाहु पर भोजन रखकर वापरते थे।

गा. सिक्किगनिक्खिवणाई पज्जोसवणाइतिहिपरावत्तो।
भोयणविहिअन्नत्तं एमाई विविहमन्नंपि ॥83॥

अ. सिक्किक निक्षेपनादि, पर्युषणादितिथिपरावर्त्त, भोजनविधि का अन्यत्व इत्यादि विविध प्र. के अन्य भी।

टी. (i) सिक्किक = दोरे का बना हुआ पात्रे का आधार विशेष। उसमें पात्रे बांधना। आदि शब्द से पटल- पूंजणी वि. का ग्रहण।
(ii) पर्युषण - संवत्सरी। आदि से चातुर्मासिक वि.।
(iii) भोजनविधि का अन्यत्व - गुप्त का ही आगम में विधान है।
(iv) एवमादि से - मंदुमेधा वाले पुरुषों के लिए पुस्तकादि का उपयोग इत्यादि।

गा. जं सव्वहा न सुत्ते पडिसिद्धं नेय जीववहहेऊ। तं सव्वंपि पमाणं चरित्तधणाण भणियं च ॥84॥

अ. जो वस्तु सूत्र में सर्वथा प्रतिषिद्ध न हो और जो जीव के वध का हेतु न हो,

चारित्र रूपी धन वाले मुनियों को वह सभी प्रमाण है। और कहा गया है -

टी. (i) सर्वथा प्रतिषिद्ध वस्तु का उदा.- मैथुन क्योंकि वह राग-द्वेष बिना नहीं होता।
जीववध हेतु का उदा.- आधाकर्मग्रहण।

(ii) तं सत्तं = वह जीत अनुष्ठान कहा जाता है।

(अब)

अव. आगम की उक्ति -

गा. अवत्थंविऊण कज्जं जं किंपि समायरंति गीयत्था।
धेतावराह बहुगुण सव्वेसिं तं पमाणं तु॥8८॥

अ. गीतार्थ जिस किसी भी कार्य का आलंबन लेकर थोड़े अपराध वाला और बहुत गुण वाला आचरण करते हैं, वह सभी चारित्रियों को प्रमाण है।

टी. (i) तु शब्द - अवधारण अर्थ में।

अव. कोई कुटिल पूछे - हमारे पिता-दादा वि. मिथ्यात्व हिंसादि में प्रवृत्त थे, तो हम भी वैसे ही वर्ते? - उत्तर -

गा. जं पुण पमायरूवं गुरुलाघवचिंतविरहियं सबहं।
सुहसीलसढाइन्नं चरित्तिणो तं न सेवंति॥8८॥

अ. सुखशील-शठादि द्वारा जो भी गुरुलाघवचिंता से रहित और सावद्य अनुष्ठान प्रमाद रूप आचीर्ण है, चारित्री उसका सेवन नहीं करते।

टी. (i) प्रमाद - संयम का बाधक होने से।
(ii) सुखशील - इहलौकिक सुख में प्रतिबद्ध।
शठ - मिथ्या आलंबन ग्रहण करने में प्रधान।

अव. इसके उदाहरण -

गा. जह सड्ढेसु ममत्तं सड्ढाए असुद्ध उवहिमत्ताई।
निद्देज्जवसहितूलीमसूरिगाईण परिभोगो॥8७॥

अ. जैसे - श्रावकों में ममत्व, श्रद्धा से अशुद्ध उपधि, भक्तादि, निर्देश्य वसति, तूली, मसूरकादि का परिभोग।

DATE __/__/____

टी. (i) श्रावकों में ममत्व - 'यह श्रावक मेरा है' वि।

(ii) राढा = शरीर की शोभा की इच्छा।

'राढा' पद का ग्रहण - पुष्ट आलंबन से दुर्भिक्षादि में अशुद्ध पिंडादि ग्रहण करने में दोष नहीं है, यह बताने के लिए।

(iii) भक्तादि में आदि से उपाश्रयादि।

(iv) तूली = गादी। मसूरक =

आदि - ताम्र कांस्य के पात्रादि।

(v) साधु सचित्त को जिस वस्तु से असंयम होता है, ऐसी अचित्त वस्तु भी ग्रहण करना अकल्प्य है जैसे पुस्तकपंचक, दूष्यपंचक, तृणपंचक, चर्मपंचक।

★ पुस्तकपंचक - 1. गंडी - चौड़ाई और ऊँचाई में समान तथा लंबी।

2. कच्छपि - corner पर छोटी, बीच में चौड़ी।

3. मुष्टी - चार अंगुल लंबी गोल अथवा चोरस।

4. संपुटक - दोनों तरफ जिल्द से बंधी पुस्तक।

5. छिवाड़ी - पतले पेज वाली, इसकी लंबाई ज्यादा और चौड़ाई कम होती है।

★ दूष्य पंचक - २ प्र. प्रप्रतिलेखित और दुष्प्रतिलेखित।

अप्रतिलेखित - गादी, तकिए, गात्र का तकिया, घुटना का तकिया वि।

दुष्प्रतिलेखित - 1. पल्हवि - हाथी की पीठ पर बिछाने का कपड़ा

2. कोयवय - (देशी शब्द), रजाई।

3. प्रावार - कामवल।

4. नवयर (देशी शब्द) फनी कपड़ा विशेष।

5. दाढीयाली - धोती, जैसा वस्त्र विशेष।

★ तृणपंचक - शालि, व्रीहि, कोद्रवादि।

★ चर्म पंचक - बकरे का, भेड़ का अथवा मृग जाति विशेष, भैंस, हिरनी वि का।

गा. इच्चाई असमंजसमणेगहा खुद्दचिट्ठियं लोए।

बहुसहिवि आयरियं न पमाणं सुद्धचरणाणं ॥३५॥

अ. इस प्रकार लोक में बहुत लोगों द्वारा भी आचरित अनेक प्रकार का क्षुद्र चेष्टित

असमंजस शुद्ध चारित्री को प्रमाण नहीं है।

हि. (i) असमंजस = शिष्ट पुरुषों को बोलने के लिए भी अनुचित।

(ii) अप्रमाणता के हेतु - आगम में निषिद्ध होने से, संयम के विरुद्ध होने से, अकारण प्रवृत्त होने से।

अब. इस प्रकार आनुषंगिक कहकर उपसंहार करते हैं -

गा. गीयत्थपारतंता इय दुविहं मग्गमणुस्सरंतस्स।
भावजइत्तं जुत्तं दुप्पसहंतं जओ चरणं ॥७७॥

अ. इस प्रकार गीतार्थ के पारतन्त्र्य से उ. के मार्ग को अनुसरते साधु को भाव-साधुत्व युक्त है क्योंकि चारित्र दुप्पसह सूरि तक रहने वाला है।

हि. (i) यदि इस प्रकार चारित्र नहीं स्वीकारें तो चारित्र का व्यवच्छेद होगा, चारित्र के व्यवच्छेद होने से तीर्थ का व्यवच्छेद होगा

अब. भावसाधु का द्वितीय लिंग -

गा. सद्धा तिव्वभिलासो धम्मे पवरत्तणं इमं तीसे।
विहिसेव अतित्ती सुद्धदेसणा खलियपरिसुद्धी ॥७०॥

अ. श्रद्धा यानि धर्म में तीव्र अभिलाष। उस श्रद्धा के प्रवरत्व का यह लक्षण है - [1]विधिसेवा, [2]अतृप्ति, [3]शुद्ध देशना, [4]स्खलित की परिशुद्धि।

हि. (i) ये ५ श्रद्धा के प्रवरत्व के चिह्न हैं।

(ii) तीव्र अभिलाष कर्म के क्षयोपशम से सज्ज्ञान से उत्पन्न होता है।

अब. विधिसेवा -

गा. विहिसारं चिय सेवइ सद्धालू सत्तिमं अणुट्ठाणं।
दव्वाइदोसनिहओवि पक्खवायं वहइ तम्मि ॥७१॥

अ. शक्तिमान् श्रद्धालु विधिसार रूप अनुष्ठान को ही सेवता है। यदि द्रव्यादि दोष से निहत हो तो भी उस अनुष्ठान में ही पक्षपात रखता है।

DATE ___/___/_____

अव. पक्षपात का उदा. -

गा. निरुओ भोज्जरसन्नू कंवि अवत्थं गओ असुहमन्नं।
भुंजं न तम्मि रज्जइ सुहभोयणलालसो भणियं ॥92॥

अ. रोग रहित शुद्ध और भोजन के रस को जानने वाला पुरुष किसी भी अवस्था को प्राप्त हुआ अशुभ अन्न को खाता हुआ उसमें राग नहीं करता किंतु अत्यंत शुभ भोजन की लालस यानि तत्पर होता है।

अव. दृष्टांत का दार्ष्टान्तिक -

गा. इय सुद्धचरणरसिओ सेवंतो दव्वओ विरुद्धंपि।
सद्धागुणेण एसो न भावचरणं अइक्कमइ ॥93॥

अ. इस प्रकार शुद्ध चरण का रसिक द्रव्य से विरुद्ध को सेवता भी श्रद्धा गुण से भाव चारित्र का अतिक्रमण नहीं करता।

टी.
(i) द्रव्य से = बाह्य वृत्ति से।
(ii) विरुद्ध = अकल्प्य औषधादि।
(iii) श्रद्धा गुण = संयम की आराधना की तत्परता के परिणाम से।

अव. अतृप्ति का स्वरूप -

गा. तित्तिं न चेव विंदइ सद्धाजोगेण नाणचरणेसु।
वेयावच्चतवाईसु जहाविरियं भावओ जयइ ॥94॥

अ. भाव साधु श्रद्धा के तृप्ति को प्राप्त नहीं करता। श्रद्धा के योग से ज्ञान-चारित्र में, वैयावच्च-~~त्त~~ तपादि में यथाशक्ति भाव से यत्न करता है।

टी.
(i) तृप्ति - 'इतने से मैं कृतकृत्य हो गया' इस प्रकार।
(ii) ज्ञान में - नया ~~न~~ नया श्रुत पढ़ना
चरण में - प्रत्येक योग द्वारा विशुद्धतर संयम स्थान की प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करे।
वैयावच्च में - कम्मसंखेज्जभवं खवेइ अणुसमयमेव उवउत्तो।
अन्नयरंमिवि जोगे वेयावच्चे विसेसेण ॥
तप में - सत्तासिं पयडीणं परिणामवसादुबद्धकमो होइ।
पायमनिकाइयाणं तवसा उ निकाइयाणंपि ॥

अब: शुभ देशना -

गा. सुगुरुसमीवे सम्मं सिद्धंतपयाण मुणियतत्तत्थो।
तयणुन्नाओ धन्नो मज्झत्थो देसणं कुणइ ॥95॥

अ. सुगुरु के पास सम्यक् रीति से सिद्धांत पदों के अर्थ को जानने वाला, धन्य और मध्यस्थ गुरु की अनुज्ञा से देशना करता है।

वि. (i) सम्यक् = पूर्व-अपर की आलोचना पूर्वक।
(ii) सिद्धांतपद = आगम।
(iii) धन्य - धर्म रूप धन के योग्य होने से।
(iv) मध्यस्थ - स्व पर पक्ष में राग-द्वेष रहित, सद्भूतवादी।
(v) गुर्वाज्ञा से → स्वतंत्रता से मौखर्य और अस्थैर्य की अतिरेक से नहीं।
(vi) देशना का अधिकारी ऐसा ही होता है, अन्य को दोष का संभव होता है।

गा. अवगयपत्तसरूवो तयणुग्गहहेउभाववुड्ढिकरं।
सुत्तमणियं परूवइ वज्जंतो दूरमुम्मग्गं ॥96॥

अ. पात्र का स्वरूप जानने वाला उन्मार्ग को दूर छोड़ता हुआ, पात्र के अनुग्रह के हेतु रूप भाव की वृद्धि को करने वाली तथा सूत्र में कही हुई देशना का प्ररूपण करे।

वि. (i) पात्र त्रय - 1. बाल - वह बाह्य क्रिया को देखता है।
2. मध्यमबुद्धि - यह वर्तन को विचारता है।
3. बुध - तत्त्व की सर्वयत्न से परीक्षा करता है।

अव. देशना तो समभाव वाले साधु को देने के लिए उचित है तो पात्र-अपात्र के विचार से क्या? उ.-

गा. सव्वंपि जओ दाणं दिन्नं पत्तंमि दायगाण हियं।
इहरा अणत्थजणगं पहाणदाणं च सुयदाणं ॥97॥

अ. क्योंकि सभी दिए हुए दान सुपात्र में दिए हुए ही दाता के हित रूप होते हैं अन्यथा अनर्थ के जनक होते हैं। श्रुतदान प्रधान दान है।

वि. (i) इतरथा - कुपात्र को दिया हुआ दान।

DATE ___/___/___

(ii) अनर्थजनक- अनर्थ के फल वाला।

अव. ~~इससे क्या?~~ इसलिए -

गा. सुद्धु परं च न देयं एयमपत्तंमि नायतत्तेहिं।
इय देसणावि सुद्धा इहरा मिच्छत्तगमणाई ॥99॥

अ. तत्त्व को जानने वालों द्वारा यह दान अपात्र को देने योग्य नहीं है, वही श्रेष्ठ है। इस प्रकार देशना भी शुद्ध है अन्यथा मिथ्यात्व की प्राप्ति आदि दोष हैं।

टी. (i) इस प्रकार -अपात्र को छोड़ते हुए पात्र को भी औचित्य से देशना शुद्ध होती है।
(ii) मिथ्यात्व श्रोता को होता है।
आदि से द्वेष, भक्त-पान-शय्या का व्यवच्छेदादि श्रोता को। देशक को इनके साथ ही प्राणहानि वि भी।

अव. सूत्रोक्त मार्ग कहना चाहिए, ऐसा कहा गया। किंतु जो सूत्र में कहा गया नहीं है और लोगों में विवाद का स्थान है, वह यदि गीतार्थ को पूछे तो गीतार्थ को क्या उचित है? उ.-

गा. जं च न सुत्ते विहियं न य पडिसिद्धं जणंमि चिरचरिअं।
समइविगप्पियदोसा तंपि न दूसंति गीयत्था ॥99॥

अ. जो सूत्र में कहा गया नहीं है, जो सूत्र में प्रतिषिद्ध नहीं है और जो लोक में लंबे काल से रूढ है, उसे भी गीतार्थ स्वमति से कल्पित दोष विकल्पित कर दूषित नहीं करते।

टी. (i) भावार्थ- अर्थात् गीतार्थ उसमें खुद की बुद्धि से दोष विचार कर निषेध नहीं करते।

अव. गीतार्थ ऐसी वस्तु में इस प्रकार विचारते हैं-

गा. संविग्गा गीयत्था विहिरसिया पुव्वसूरिणो आसि।
तददूसियमायरियं अणइसई को निवारेइ ॥100॥

अ. पूर्वाचार्य संविग्न, गीतार्थतम और विधिरसिक थे। उनके द्वारा अदूषित

आचरण किया गया। कौन अनतिशयी उसका निवारण करे।

टी. (i) गीयतम - 'पदैकदेशे पदप्रयोगः यथा भीमसेनो भीमः'। इसी न्याय से गीत= गीतार्थ। प्रकृष्ट अर्थ में तमप् - गीतार्थतम = अतिशय गीतार्थ क्योंकि उस समय बहुत सारे आगम थे।

(ii) विधिरासिक - संविग्न होने से।

(iii) अनतिशयी = विशिष्ट श्रुत - अवधि आदि अतिशय से रहित। उन उत्तम पूर्वाचार्य की आशातना के डर से कोई ~~अतिशयी~~ निवारण नहीं करते।

अव. ऐसा भी गीतार्थ विचारते हैं -

गा. अइसाहसमेयं जं उस्सुत्तपरूवणा कडुविवागा।
जाणंतोहिवि दिज्जइ निद्देसो सुत्तवज्झत्थे॥101॥

अ. 'उत्सूत्रप्ररूपणा कटु विपाक वाली है' इस प्रकार जानते हुए लोगों द्वारा भी सूत्र से बाह्य अर्थ में निर्देश दिया जाता है, यह अतिसाहस है।

टी. (i) उत्सूत्र प्ररूपणा = सूत्र से निरपेक्ष देशना।

(ii) कटु विपाक = दारुण फल वाले।

(iii) अतिसाहस = जलती हुई अग्नि में प्रवेश करने वाले मनुष्य के साहस से भी अधिक।

अव. प्र. आगम अर्थ को जानकर भी कोई उत्सूत्र प्ररूपणा करता है क्या? उ. -

गा. दीसंति य दुद्दसिणोणेगे नियमइपउत्तजुत्तीहिं।
विहिपडिसेहपवत्ता चेइयकिच्चेसु रूढेसु॥102॥

अ. निज मति से प्रयुक्त युक्तियों द्वारा च रूढ चैत्य कृत्यों में विधि और प्रतिषेध में प्रवृत्त ऐसे अनेक दुर्दर्शिन देखे जाते हैं।

टी. (i) दुर्दर्शिन = महासाहसिक, जो संसार रूपी पिशाच से भी नहीं डरते।

(ii) 'पूर्व रूढ - अविधि, नई विधि' इस प्रकार विधि और प्रतिषेध।

अव. सर्व प्रयत्नों से उस प्रकार प्रवृत्त वे धर्मार्थी गीतार्थों द्वारा प्रशंसा योग्य हैं।

सुत्तभणियंमि सुत्तं पमाणमियरंमि होइ आयरणा।
संविग्गगीयबहुजणनिसेविया सावि हु पमाणं॥

DATE ___/___/___

या नहीं? उ. -

गा. तं पुण विसुद्धसद्धा सुयसंवायं विणा न संसंति।
उवहीरिऊण नवरं सुयाणुरूवं परूविंति॥103॥

अ. विशुद्ध श्रद्धा वाले गीतार्थ उस प्रवृत्ति की भी श्रुतसंवाद के बिना प्रशंसा नहीं करते किंतु उपेक्षा कर श्रुत के अनुरूप प्ररूपणा करते हैं।

टी.
(i) उस प्रवृत्ति = महासाहसिकों की उत्सूत्रप्ररूपणा रूप प्रवृत्ति।
(ii) श्रुत संवाद = शास्त्र पाठ।
(iii) प्रशंसा = अनुमोदना करना, अनुमति देना।
(iv) उपेक्षा = मध्यस्थ भाव से उपेक्षा।
(v) उदा. → यहाँ वृत्तिकार भगवंत ने द्रव्य पूजा तथा घृतक्षीर-इक्षुरसादि से जिन के स्नात्र महोत्सव करने की चर्चा की है।

कुछ पहले कुछ शास्त्र पाठ - आगम, उमास्वाति, गोविंदाचार्य - सनत्कुमारसंधि, धूपावलिका ग्रंथ, जिनेश्वर सूरि - ~~कथ~~ कथानककोशशास्त्र, अभयदेव सूरि - पंचाशक वृत्ति।

फिर कुछ युक्ति - 1. पूर्वपुरुषाचरितानां निषेधश्छद्मस्थैर्न कर्त्तव्यः, क्वापि आगमे निषेधादर्शनात्।

2. नापि इन्द्रादिभिर्न कृतानि ईतानि इति ज्ञापकं प्रमाणं, देवमनुष्याणामाचारस्य असमानत्वात्। देवा हि प्रथमोत्पन्ना एव चैत्यपूजादि कुर्वन्ति। मनुजास्तु यावज्जीवं त्रिकालमपि। देवाः सकृदेककल्याणके पूजां कुर्वन्ति, न तु तपःकर्म मनुजास्तु प्रतिवर्षं तपः क्रियापूर्वकं सर्वतीर्थकृतां सर्वकल्याणकेषु पूजां विदधति इत्यादि। तस्मात् मनुजानां मनुजव्यवहारः श्रेयान्।

3. सुत्तभणियंमि सुत्तं पमाणमियरंमि होइ आयरणा।
संविग्गगीयबहुजणनिसेविया सावि हु पमाणं॥

व्रत. ~~चौथा व्रत~~ — 5. स्खलित की परिशुद्धि -

गा. अइयारमेक्कमेक्कं पमायमाईहिं कहवि चरणस्स।
जणियंपि विवडणाए सोहिंति मुणी विमत्थसद्धाए॥104

प्र. निर्मल श्रद्धा वाले मुनि प्रमादादि द्वारा किसी भी प्रकार चारित्र के उत्पन्न अतिचार रूपी मल कलंक को विकटना (आलोचना) से शुद्ध करते हैं।

टी. (i) अतिचारमलकलंक - मूल या उत्तर गुण की मर्यादा का अतिक्रम रूप पानि अतिचार। वही गुण की मलिनता का हेतु होने से मल। वह चारित्र रूपी चंद्र के कलंक की तरह है।

(ii) कथमपि - कंटक से व्याप्त मार्ग में यत्न से जाते हुए को भी काँटे लगने की तरह। साधु को भी प्रमाद-दर्प वि. प्रायः असंभव होने से।

(iii) प्रमाद-दर्पादि 10 प्र. की प्रतिसेवा रूप आकुट्टिका का उपलक्षण है -

* 10 प्र. की प्रतिसेवा - 1. दर्प 2. प्रमाद 3. अनाभोग 4. आतुर 5. आपत्ति 6. शंकित 7. सहसाकार 8. भय 9. प्रदोष 10.

अव. प्रस्तुत लिंग का उपसंहार और अन्य लिंग का संबंध -

गा. एसा पवरा सद्धा अणुबद्धा होइ भावसाहुस्स।
ईए सब्भावे पन्नवणिज्जो हवइ एसो ॥105॥

टी. अ. यह प्रवर श्रद्धा भाव साधु को अनुबद्ध होती है। इस श्रद्धा के सद्भाव में यह साधु प्रज्ञापनीय होता है।

टी. (i) अनुबद्ध - अव्यवच्छिन्न। व्यवच्छेद रहित।

(ii) प्रज्ञापनीय - असद्ग्राह से रहित।

अव. प्र. क्या चारित्र वाला भी असद्ग्राह वाला हो सकता है? उ. हो सकता है, मति के मोह की महत्ता से। मति का मोह कैसे होता है? उ. -

गा. विहि उज्जम वन्नय भय उस्सग्ग वयाय तदुभयगयाइं।
सुत्ताइं बहुविहाइं समए गंभीरभावाइं ॥106॥

स. विधि, उद्यम, वर्णक, भय, उत्सर्ग, अपवाद, तदुभय में रहे जो बहुत प्रकार के सूत्र हैं, वे समय (सिद्धांत) में गंभीर भाव वाले हैं।

टी. (i) विधि - कुछ सूत्र विधि बताने वाले हैं। eg. संपत्ते भिक्खकालंमि असंभंतो अमुच्छिओ। इसेण कमजोएण पत्तपाणं गवेसए॥ इत्यादि।

DATE __/__/____

(ii) उदाहरण - 'समयं गोयम! मा पमायए' इत्यादि।
(iii) वर्णक - चरित्र ग्रंथ eg. ज्ञाताधर्मकथा इत्यादि।
(iv) भय - नारकादि का दुःख दिखाने वाले।
(v) उत्सर्ग - 'इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभेज्जा' इत्यादि 6काय जीव की रक्षा का विधान करने वाले।
अपवाद - प्रायः छेदग्रंथ।
(vi) उभय - जिनमें उत्सर्ग-अपवाद एक साथ कहे जाते हैं। eg. 'न या लभेज्जा निउणं सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा। एक्कोवि पावाइं विवज्जयंतो विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥ इत्यादि।
(vii) गंभीर भाव - ये ग्रंथ महामति द्वारा ही जाने जा सकते हैं, इनके अभिप्राय महाबुद्धि से ही पता चलता है।

गा. तेसिं विसयविभागं असुणंतो नाणवरणकम्मुदया।
भुज्जइ जीवो तत्तो सपरोसिमसग्गहं जणइ ॥107॥

अ. उन सूत्रों के विषयविभाग को ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से नहीं जानता ~~होत्सी~~ जीव मोहित होता है। उससे वह स्व और पर को असद्ग्रह उत्पन्न करता है।

टी. (i) पर = स्वयं का पर्युपासक।
(ii) उदा. - जमालि।

गा. तं पुण संविग्गगुरू परहियकरणुज्जयाणुकंपाए।
बोहिंति सुत्तविहिणा पन्नवणिज्जं वियाणंता ॥108॥

अ. पर हित करने में उद्यत ऐसे संविग्न गुरु उस मूढ को भी प्रज्ञापनीय जानते हुए अनुकंपा से सूत्र की विधि से बोध देते हैं।

टी. (i) तं = मूढ। पुनः शब्द - अर्थी और विनीत
(ii) अनुकंपा - 'यह दुर्गति में न जाए' इस प्रकार अनुग्रह बुद्धि से।
(iii) सूत्र विधि - आगम में कही हुई युक्तियों से।
(iv) 'प्रज्ञापनीय' पद का ग्रहण - अप्रज्ञापनीय को सर्वज्ञ भी बोध नहीं दे सकते, यह

पढमा पोरुसि सज्झायं बीया ज्झाणं ज्झियायइ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु सज्झायं च चउत्थिए॥
(रात्रि में)

बताने के लिए।

गा. सोवि असग्गहचायो सुविसुद्धं दंसणं चरित्तं च।
आराहिउं समत्थो होइ सुहं उज्जुभावाओ॥109॥

अ. वह प्रज्ञापनीय शिष्य भी ऋजुभाव से असद्ग्रह के त्याग से सुविशुद्ध दर्शन और चारित्र को आराधने के लिए सुख पूर्वक समर्थ होता है।

टी.
(i) च शब्द - ज्ञान और तप।
(ii) 'ऋजुभाव' पद का ग्रहण - ~~प्रज्ञापनीय~~ आलोचन लेने वाले प्रज्ञापनीय की शुद्धि भी ऋजुभाव से ही होती है।

अव. भाव साधु का चौथा लिंग - क्रियापरत्व। क्रियापरत्व प्रमाद वाले को नहीं होता। अतः प्रमाद छोड़ने का उपदेश देते हैं-

गा. सुगइनिमित्तं चरणं तं पुण छक्कायसंजमो चेव।
सो पालिउं न तीरइ विगहाइपमायजुत्तेहिं॥110॥

अ. चारित्र सुगति का निमित्त है। चारित्र भी छक्काय का संयम ही है। वह संयम विकथादि प्रमाद से युक्त साधुओं द्वारा पालन करने के लिए समर्थ नहीं है।

टी.
(i) सुगति = मोक्ष।
(ii) चकार - चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम।
(iii) प्रमाद ~~के~~ 5 प्र. - मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा।
मज्जं विसयकसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया।
एए पंच पमाया जीवं पाडंति संसारे॥

★ ~~चित्र~~ साधु का रात्रि में आचार-
पढमा पोरुसि सज्झायं बीया ज्झाणं ज्झियायइ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु सज्झायं च चउत्थिए॥

अव. प्रमाद के अपाय विशेष से कहते हैं-

गा. पलवज्जं विज्जंपिव साहिंतो होइ तो पमाइत्थो।
तस्स न सिज्झइ एसा करेइ गरुयं च अवयारं॥111॥

DATE __/__/____

अ. जो प्रमादी दीक्षा को साधता है, उसे यह दीक्षा विद्या की तरह सिद्ध नहीं होती और बड़ा अपकार करती है।

टी. (i) विद्या की तरह- जैसे प्रमादी को विद्या सिद्ध नहीं होती, वैसे दीक्षा भी सिद्ध नहीं होती। विद्या ग्रहसंक्रमादि अपाय करती है, वैसे दीक्षा भी ~~सिद्ध होना - फल देना।~~ दीर्घ संसार भ्रमण रूप अपाय देती है।

(ii) सिद्ध होना - फल देना।

गा. पडिलेहणाइचेट्ठा छक्कायविघाइणी पमत्तस्स।
भणिया सुयंमि तम्हा अपमाई सुविहिओ होइ ॥112॥

अ. प्रमत्त की प्रतिलेखनादि चेष्टा श्रुत में छः काय जीवों का घात करने वाली कही गई है, अतः अप्रमादी और सुविहित होना चाहिए।

टी. (i) सुविहित - अच्छे से विधि करने वाला।

अब. अप्रमादी कैसा होता है?-

गा. रक्खइ वएसु खलियं गुवउत्तो होइ समिइगुत्तीसु।
वज्जइ अवज्जहेउं पमायचरियं सुथिरचित्तो ॥113॥

अ. व्रतों में स्खलित की रक्षा करे। समिति-गुप्तियों में उपयुक्त होता है। अच्छी तरह से स्थिर चित्त वाला अवद्य के हेतु रूप प्रमादाचरण का वर्जन करता है।

टी. (i) रक्षा करना - परिहार करना।

(ii) समिति - व्यापार रूप। गुप्ति - व्यापार-अव्यापार रूप।

गा. कालंमि अपूणहियं किरियंतरविरहिओ जहासुत्तं।
आयरइ सव्वकिरियं अपमाई जो इह चरित्ती ॥114॥

अ. जो अप्रमादी ~~काल~~ अन्य क्रिया से रहित, काल में अन्यूनाधिक ऐसी सभी क्रियाओं को सूत्रानुसार आचरता है, वह यहाँ चारित्री है।

टी. (i) काल पद ग्रहण - अकाल में कृषि वि. क्रिया भी इष्ट फल नहीं देती इसलिए।

(ii) क्रियान्तरविरहित - ९. प्रदक्षिणा देते हुए स्तोत्रादि बोलने से क्रियांतर होता है

क्योंकि ईर्यासमिति और स्तोत्र दोनों में उपयोग वर्तता रहता है। चर्चा - अंत में, चैत्यवंदन का उपयोग होने से एक ही विषय है, उसी विषय में उपयोग रहता है।

अ. भाव साधु का 3वां लिंग -

गा. संघयणाइरूवं आरंभइ सक्कमेवणुट्ठाणं।
बहुलाभमप्पच्छेयं सुयसारविसारओ सुजई ॥115॥

अ. श्रुत के सार के विशारद ऐसे सुयति बहुत लाभ और अल्प छेद वाले तथा संघयणादि के अनुरूप शक्य ही अनुष्ठान का आरंभ करते हैं।

टी.
(i) संघयणादि - आदि शब्द से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव।
(ii) भावार्थ - जो जिस संघयणादि में वहन करने के लिए शक्य हो, वही आरंभ करते हैं। अधिक करने में प्रतिज्ञा भंग का संभव है।
(iii) अल्प छेद - अल्प अपकार वाला। अल्प शब्द अभाव अर्थ में है।

गा. जह तं बहु पसाहइ निवडइ असंजमे दढं न जओ।
जाणिउज्जमं बहूणं विसेसकिरियं तहाढवइ ॥116॥

अ. जिस प्रकार वह अनुष्ठान बहुत फल दे, उससे दृढ़ असंयम में गिर न जाए और अन्य बहुतों के मनोरथ का संपादन करे, उस प्रकार उस विशेष क्रिया को वहन करे।

टी.
(i) प्रसाधयति - पुनः पुनः सेवन से बहुत फल देने वाला हो।
(ii) असंयम में गिरना - जिस अनुष्ठान से अत्यंत असंयम में न गिर जाए, वैसा ही अनुष्ठान करना चाहिए। eg. कभी रोग होने पर चिकित्सा में असंयम होता है किंतु चिकित्सा बिना अविधि से मृत साधु को संयम का अंतराय होता है। अतः चिकित्सा कराना चाहिए।
(iii) जनितोद्यम = मनोरथ संपादन करने वाली।
(iv) बहूणं - विशेष अनुष्ठान में अन्य बहुतों को चिकीर्षा होती है। अतः उन साधर्मिकों के मनोरथ भी पूरे हो, उस प्रकार अनुष्ठान करना चाहिए।

DATE ___/___/_____

गा. गुरुगच्छुन्नइहेउं कयतित्थपभावणं निरासंसो।
अज्जमहागिरिचरियं सुमरंतो कुणइ सक्किरियं॥117॥

प्र. निराशंस ऐसे भाव साधु गुरु और गच्छ की उन्नति का हेतु, तीर्थ प्रभावना करने वाले ऐसे आर्य महागिरि के चरित्र का स्मरण करता हुआ सक्रिया करे।

दी. (i) गुरुगच्छुन्नइहेउ - 'धन्य है ये गुरु और गच्छ' जिनके सानिध्य से इस प्रकार दुष्कर तप होते हैं' इस प्रकार प्रशंसा का हेतु।

(ii) निराशंस - ऐहिक या पारत्रिक आशंसा से मुक्त।

(iii) आर्य महागिरि - सुधर्मस्वामी की 8वीं पाट पर स्थूलिभद्र अंतिम 14 पूर्वी × 2 शिष्य 10 पूर्वी - आर्यमहागिरि और सुहस्ती × दोनों साथ में विचरते हैं × महागिरि गण सुहस्ती सू. को सौंपकर जिनकल्प के समान क्रिया करने लगे × पाटलिपुत्र पहुँचे × एक सेठ की विनंती से सुहस्ती सू. उसके घर जाकर स्वजनों को बोध देते हैं तथा रोज जाते हैं × एकदा महागिरि तृतीय प्रहर में भिक्षार्थ वहाँ आए × सुहस्ती सू. ने उनका विनय किया × सेठ को उनका आचार समझाया × सेठ ने पूरी गली में कहा - आहार छोड़ते हुए ही वो लेंगे × सब ऐसा करने लगे × महागिरि ने उपयोग दिया, तब पता चला - अनेषणीय है × सुहस्ती सू. ने जानकर विहार किया × एकदा महागिरि एलगच्छ नगर गए × गजाग्रपर्वत पर अनशन कर देवलोक में गए ॥ (आवश्यक सूत्र)

उपनय → जिस प्रकार महागिरि ने व्युच्छिन्न जिनकल्प को यथाशक्ति आचरा वैसे भावसाधु को विशेष करना चाहिए।

अ. इसे ही विशेष से कहते हैं -

गा. सक्कंमि नो पमायइ ससक्कक्कज्जे पवित्तिमणुणंतो।
सक्कारंभो चरणं विसुद्धमणुपालए एवं॥118॥

अ. भावसाधु शक्य अनुष्ठान में प्रमाद नहीं करते हैं। तथा अशक्य कार्य में प्रवृत्ति को नहीं करते हुए शक्यारंभ वाले विशुद्ध चारित्र को इस प्रकार अनुपालन करते हैं।

दी. (i) अनुपालन = बढ़ाना।

अव. प्र. क्या धर्म करते हुए भी किसी को असत् आरंभ होता है? उ. मतिमोह और

DATE ___/___/ 133

ज्ञान के अतिरेक से हो सकता है। प्र. किसकी तरह? –

गा. जो गुरुमवमन्नंतो आरंभइ किर असक्कमावि किंचि।
सिवभूइ व्व न एसो सम्मारंभो महामोहा॥119॥

अ. जो गुरु की अवज्ञा करता हुआ कुछ अशक्य भी आरंभ करता है, यह महामोह होने से शिवभूति की तरह सम्यगारंभ वाला नहीं होता।

टी. (i) गुरु की अवज्ञा – 'ये तो हीन आचार वाले हैं' इस प्रकार
(ii) अपि शब्द – गुरु द्वारा नहीं किया जाता कुछ शक्य भी e.g. तिगइ त्याग।
(iii) आशय – अकृतज्ञता और ज्ञानातिरेक बिना कोई भी परमोकारी गुरु की छाया के भ्रंश के लिए उत्साहित नहीं होता।
(iv) शिवभूति = आद्यदिगंबर → रथवीर पुर × सिंहरथ राजा × शिवभूति × उत्तर और दक्षिण मथुरा जीतकर राजा को खुश किया × वर मांगा – नगर में कहीं भी कभी भी घूमना × रात को देर से घर आता है × पत्नी ने सासू को कहा × सासू जागी × रात को कहा – जहाँ दरवाजे खुल्ले हो, वहाँ जा × उपाश्रय गया × आर्यकृष्ण सूरि × दीक्षा का कहा × सूरि – राजा को पूछकर दीक्षा दूँगा × स्वयं लोच करने लगा × गुरु ने अनवस्था दोष से दीक्षा दी × राजा ने कभी वापस बुलाया × राजा ने सुंदर कंबल दिया × गुरु – महामूल्य वाला क्यों ग्रहण किया × शिव – राजा की दाक्षिण्यता से × इसके परोक्ष में गुरु ने निषद्या बना दी × कभी याचना में गुरु ने उपधिविचार किया × – जिनकल्प की 12, स्थविर कल्प की 14, साध्वी की 25 × शिव – जिनकल्प ही श्रेष्ठ है, वैसे भी तीर्थंकर ऐसे ही रहते हैं × गुरु – तीर्थंकर जैसा हम कैसे कर सकते हैं? वह तो प्रथम संघयण में ही होता है × अभिमान से वह बोला – मंदसत्त्ववाले तुम, सुख में तत्पर उद्यम नहीं करते तो मैं सामर्थ्य होने पर भी प्रमादी क्यों बनूं? × ऐसा बोलकर वृद्ध पुरुषों द्वारा वारण करने पर भी नग्न होकर निकल गया × उसकी बहन उत्तरा भी चली × वेश्या ने एक साड़ी दी × वह इच्छती नहीं है × भाई ने बोला – बहन! देवदि· देव का दिया हुआ मत छोड़ × इस प्रकार साध्वी को एक साड़ी पन हुआ।

प्र. भाव साधु का 6ठां लिंग गुणराग –

गा. जायइ गुणेसु रागो सुट्ठ चरित्तस्स नियमओ पवरो।
परिहरइ तओ दोसे गणगणमालिन्नसंजणए॥120॥

DATE ___/___/_____

अ. शुद्धचारित्र वाले को गुणों में अवश्य प्रवर राग होता है। इससे वह गुणों के समूह की मलिनता को करने वाले दोषों का परिहार करता है।

टी.
(i) गुणगणमालिन्यसंजनक - ~~ज्ञानाद्~~ ज्ञानादि गुणों की अशुद्धता के हेतु।

अव. गुणानुराग का लिंग -

गा. गुणलेसंपि पसंसइ गुरुगुणबुद्धीए परगयं एसो।
दोसत्तवेणवि नियगं गुणनिवहं निग्गुणं गणइ ॥121॥

अ. गुणानुराग वाले भावसाधु दूसरे में रहे गुणों के लेश की भी बड़े गुण की बुद्धि से प्रशंसा करते हैं। ~~स्व~~ दोष के लव से भी स्वयं के गुण समूह को निर्गुण मानते हैं।

टी.
(i) गुणलेसंपि - अपि का अर्थ → महान् गुण तो दूर रहो।
(ii) उदा. - सड़े हुए काले कुत्ते के शरीर में श्वेत दंतपंक्ति देखने वाले कृष्ण।
(iii) दोषलव - ~~अल्प प्रमाद~~ प्रमाद से हुए स्खलित।
(iv) निर्गुण - असार।
(v) उदा. - कान पर रखी सूंठ के टुकड़े को भूलने वाले अंतिम १०पूर्वधर ब्र वज्रस्वामी।

गा. पालइ संपत्तगुणं गुणड्ढसंगे पमोयमुव्वहइ।
उज्जमइ भावसारं गुरुतरगुणरयणलाभत्थी ॥122॥

अ. प्राप्त हुए गुण का पालन करते हैं, गुणवान् के संग में प्रमोद का वहन करते हैं, बड़े-बड़े गुण रूपी रत्नों की प्राप्ति के अर्थी भाव पूर्वक उद्यम करते हैं।

टी.
(i) पालन करना - रक्षा करना और बढ़ाना।
(ii) गुरुतर गुण - क्षायिक भाव के गुण।
(iii) उद्यम करना - ध्यान अध्ययन तप वि. कृत्यों में

गा. सयणोत्ति व सीसोत्ति व उवगारित्ति व गणिव्वसो वत्ति।
पडिबंधस्स न हेऊ नियमा एयस्स गुणरागी ॥123॥

इ. 'स्वजन, शिष्य, उपकारी, एकगच्छीय' इस प्रकार ये गुणरागी को प्रतिबंध

के हेतु नहीं है। वे इनमें से एक भी मुणी गुणहीन के प्रतिबंध में हेतु बनता है।

टी. (i) 'ये मेरा स्वजन है' 'ये मेरा शिष्य है' इत्यादि प्रतिबंध।

अव. चारित्री को उनके स्वजनों को क्या कहना चाहिए ? –

गा. करुणावसेण नवरं अणुसासइ तंपि सुद्धमग्गंमि।
अच्चंताजोगं पुण अरत्तदुट्ठो उवेहेइ ॥124॥

अ. उन्हें भी करुणा के वश से शुद्ध मार्ग में अनुशासित करे। अत्यंत अयोग्य की अरक्तद्विष होकर उपेक्षा करें।

टी. (i) करुणा - परदुःख निवारण बुद्धि।

(ii) नवरं = केवल = राग द्वेष के परिहार पूर्वक।

अव. गुणानुराग का फल –

गा. उत्तमगुणाणुराया कालाइदोसओ अपत्तावि।
गुणसंपया परत्थवि न दुल्लहा होइ भव्वाणं ॥125॥

अ. उत्तम गुणों के अनुराग से कालादि दोष होने पर भी भव्य जीवों को अप्राप्त ऐसी गुण संपदा परभव में भी दुर्लभ नहीं होती।

टी. (i) कालादि - आदि से संघयण का अभाव और सहाय का अभाव।

(ii) गुणसंपदा – परिपूर्ण धर्म सामग्री।

अव. भाव साधु का नवां लिंग गुर्वाज्ञाराधन –

गा. गुरुपयसेवानिरओ गुरुआणाराहणंमि तल्लिच्छो।
चरणभरधरणसत्तो होइ जई नन्नहा नियमा ॥126॥

अ. गुरु चरण की सेवा में निरत और गुरु की आज्ञा के आराधन में तल्लिप्सु हो चारित्र के भार को धारण करने में सक्त वाला यति होता है, अन्यथा अवश्य नहीं होता।

टी. (i) गुरुपदसेवानिरत – सेवा में रत, मात्र गुरु के पास रहना मात्र नहीं। तथा गुरु द्वारा कठोर वचन से भर्त्सना होने पर भी बहुमान ही धारण करने वाला।

पिंडं असोहयंतो अचरित्ती एत्थ संसओ नत्थि।
DATE ___/___/_____ चारित्तंमि असंते निरत्थिया चेव पव्वज्जा॥

(ii) तत्परेषु - गुरु का आदेश होने पर उसी आदेश की आराधना में तत्पर।

अत. इस प्रकार निश्चय कैसे जाना जाता है? -

गा. सव्वगुणमूलभूओ भणिओ आयारपढमसुत्ते जं।
गुरुकुलवासोवस्सं वसेज्ज तो तत्थ चरणत्थी॥127॥

अ. आचारांग के प्रथम सूत्र में गुरुकुलवास को सर्व गुणों का मूलभूत कहा है, इसलिए चारित्र के अर्थी को अवश्य उसमें रहना चाहिए।

टी. (i) सर्वगुण - 18000 शीलांग रूप।
(ii) मूलभूत - प्रथम कारण।
(iii) आचारांग के प्रथम सूत्र में - 'सुयं मे आउसं तेणं एवमक्खायं'। अर्थात् सुधर्मस्वामी जंबूस्वामी को ऐसा कहते हैं - हे आयुष्मन्! मेरे द्वारा भगवान् के समीप रहते हुए ऐसा सुना गया, इसका भावार्थ यही है कि सभी धर्मार्थी द्वारा गुरु सेवा की जानी चाहिए।
(iv) गच्छवास का गुण -

जइवि य निग्गयभावो तहावि रक्खेज्जई स सन्नेहिं।
वंसकडित्थो चिन्नोवि वेणुओ पावए न महीं॥

अत. आगम में तो आहारशुद्धि ही मुख्य चारित्र शुद्धि का मुख्य हेतु है - 'पिंडं असोहयंतो अचरित्ती एत्थ संसओ नत्थि। चारित्तंमि असंते निरत्थिया चेव पव्वज्जा॥' तथा पिंड विशुद्धि बहुत लोगों के बीच में दुष्कर होती है। अत: अकेले होकर भी वही करना चाहिए क्योंकि चारित्र बिना ज्ञानादि की प्राप्ति से भी क्या? -

गा. एयस्स परिच्चाया सुद्धुंछाइवि न सुंदरं भणियं।
कम्माइवि परिसुद्धं गुरुआणावत्तिणो विंति॥128॥

अ. इस गुरुकुलवास के त्याग से शुद्ध उञ्छादि भी सुंदर नहीं कहे गए। गुरु की आज्ञा में रहने वाले को आधाकर्मादि भी परिशुद्ध कहते हैं।

टी. (i) शुद्धोञ्छ - शुद्ध भिक्षा। आदि - उपधि वि.।

(ii) उदा.- शबर राजा x सरजस्क साधु x मोरपीछ का छत्र x रानी का हठ x सैनिक को आज्ञा- पैर पर नहीं मारना क्योंकि गुरु की अवज्ञा बड़े पाप के लिए होती है।
उपनय→ गुरु को मरवाते और पदस्पर्श का निवारण करते राजा का जैसा विवेक है, वैसा ही गुरुकुलत्यागी और शुद्धोञ्छादि के अभिलाषी साधु का विवेक है
(iii) कर्मादि→ आदि शब्द से उद्गम - उत्पादन - एषणा के सभी दोष ।

प्र. गुर्वाज्ञाकारी की स्तुति-
गा. ता धन्नो गुरुआणं न मुयइ नाणाइगुणगणनिहाणं।
सुपसन्नमणो सययं कयन्नुयं मणसि भावितो॥129॥
अ. इसलिए वे धन्य हैं, जो सुप्रसन्नमनवाले सतत कृतज्ञता को मन में विचारते ज्ञानादि गुण के समूह के निधान रूप गुर्वाज्ञा को नहीं छोड़ते।
टी (i) सुपसन्नमन = सुष्ठु यानि अतिशय ~~से प्रसन्न मन वाले~~। प्रसन्न मन = निर्मल मन वाले, जो निष्ठुर शिक्षा करने पर भी कोप नहीं करते ।
(ii) कृतज्ञता - उपकार की अविस्मृति ।

प्र. जैसे-तैसे भी गुरु गुण की प्राप्ति के लिए संवनीय है अथवा कोई विशेष ही?-
गा. गुणवं च इमो सुत्ते जहत्थगुरुसद्दभायणं इट्ठो।
गुणसंपया दरिद्दो जहुत्तफलदायगो न मओ॥130॥
अ. ये गुरु गुणवान् और सूत्र में यथार्थ गुरु शब्द के भाजन ही इष्ट हैं।
गुण रूपी संपत्ति से दरिद्र गुरु यथोक्त फल दायक नहीं माने गए हैं।
टी (i) जहत्थ गुरुशब्द भायणं - शास्त्र में जो 'गुरु' शब्द है, उसके यथार्थ यानि व्युत्पत्ति अर्थ के भाजन यानि आधार।
* गुरु शब्द की व्युत्पत्ति - गृणाति इति गुरुः।
(ii) ~~मुणत~~ गुणवान् → प्रधान गुण - 'वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो... ।' इन गुणों बिना गुरुत्व नहीं होता। 'प्रतिरूप, तेजस्वी' इत्यादि अन्य गुण कभी होते हैं, कभी नहीं।
(iii) गुण संपत्ति से दरिद्र गुरु होने पर गुरु के योग में यथोक्त फल प्राप्त नहीं होता।

DATE ___/___/_____

अव. प्र. प्रमत्तों में तो कोई गुण होते हैं, कोई गुण नहीं। कोई किसी गुण से अधिक तो किसी गुण से हीन होता है। अतः हम किन गुरु का आश्रय करें? इ. - डोलते हुए मन वाले हमें क्या उचित है? इ. -

गा. मूलगुणसंपउत्तो न दोसतत्तवजोगओ इमो हेओ।
महुरो-वक्कमओ पुण पवत्तियव्वो जहुत्तम्मि ॥131॥

अ. ये गुरु मूलगुण से युक्त दोष के तत्व के योग से हेय नहीं होते। वे तो मधुर उपक्रम से यथोक्त अनुष्ठान में प्रवर्तने योग्य हैं।

टी. (i) मूलगुण... → मूल गुण से शुद्ध गुरु सामाचारी भिन्न होने पर भी छोड़ने योग्य नहीं हैं।

(ii) मधुरोपक्रम - सुखद उपाय से।

अव. इस प्रकार उपदेश देने का कारण -

गा. पत्तो सुसीससद्दो एव कुणंतेण पंथगेणावि।
गाढप्पमाइणोवि हु सेलगसूरिस्स सीसेणं ॥132॥

अ. इस प्रकार करते हुए गाढ प्रमादी ऐसे शैलक सूरि के शिष्य पंथक द्वारा 'सुशिष्य' शब्द प्राप्त किया गया।

टी. (i) इस प्रकार - गुर्वज्ञा की आराधना करते हुए।

(ii) पंथकेनअपि - अपि से अन्य भी इस प्रकार के शिष्य।

(iii) उदा. शैलकसूरि - द्वारावती × कृष्ण राजा × सार्थवाही थावच्चा × थावच्चापुत्र × 32 कन्या से विवाह × नेमिनाथ भगवान् पधारे × देशना सुन आग्रह कर 1000 के साथ दीक्षा ली × (वासुदेव का वर्णन) × 14 पूर्वी बने × शैलक पुर में शैलक राजा, सोगंधिका नगरी में सुदर्शन सेठ को जैन बनाया × सुदर्शन सेठ पहले शुक परिव्राजक का भक्त था × शुक पारि उसके घर आया × सेठ उसे ज्ञान में थावच्चापुत्र आचार्य के पास लाया × बोध पाकर दीक्षा ली × शुक 14 पूर्वी हुए × थावच्चा पुत्र 2 मास अनशन कर शत्रुंजय पर मोक्ष गए × शुक सूरि शैलक पुर आए × शैलक राजा ने दीक्षा ली × आचार्य बने × शुक सूरि शत्रुंजय पर मोक्ष में गए × शैलकाचार्य शैलक पुर आए × मंडुक राजा, पुत्र × विनंती × ~~चिकित्सा~~ × पंथक को छोड़कर सब चले गए, आज्ञा लेकर × चौमासी खामणा × उग्र विहार × शत्रुंजय × निर्वाण।

दो पुरिसे धरउ धरा अहवा दोहिंपि धारिया वसुहा।
उवयारे जस्स मई उवयरियं जो न पम्हुसइ ॥

DATE ___/___/ 139

अव. इस प्रकार करते साधु को लाभ -

गा. एवं गुरुबहुमाणो कयन्नुया सयत्थगच्छ गुणवुड्ढी।
अणवत्थापरिहारो हुंति गुणा एवमाईया ॥133॥

अ. इस प्रकार गुरु का बहुमान होता है, कृतज्ञता, सभी गच्छ और गुण की वृद्धि होती है, अनवस्था का परिहार होता है। इस गुण होते हैं।

टी. (i) गुरु - २ प्र. 1. सामान्य गुरु → अनन्तर - धर्माचार्यादि।
परंपर - पूर्व-पूर्व के आचार्य, यावत् सुधर्मास्वामी तक।
2. परम गुरु → तीर्थंकर।

(ii) बहुमान - मानस प्रीति का अतिशय।

(iii) आज्ञा वर्ती गच्छ के ज्ञानादि गुणों को गुरु बढ़ाते ही हैं। अन्यथा त्याग भी कर देते हैं, कालकाचार्य की तरह।

(iv) अनवस्था = मर्यादा हानि। जो एक गुरु को छोड़ता है, उसे अन्य भी ग्रहण नहीं करते; ग्रहण करने पर भी वह स्थिर नहीं रहता, जिससे वह अकेला रहता है। उसकी स्वेच्छाचारिता को देखकर अन्य भी अकेले होते हैं। इस प्रकार अनवस्था।

प्रव. इस प्रकार गुर्वाज्ञाराधन न करने से क्या होता है? -

गा. इहरा वुत्तगुणाणं विवज्जओ तह य अत्तउक्करिसो।
अप्पच्चओ जणाणं बोहिविघायाइणो दोसा ॥134॥

अ. अन्यथा उक्त गुणों का विपर्यय होता है तथा आत्मा का उत्कर्ष होता है। लोगों को अप्रत्यय होता है, बोधिविघातादि दोष होते हैं।

टी. (i) आत्मोत्कर्ष - स्वयं का अभिमान, जो अनर्थ की परंपरा का कारण है।

(ii) अप्रत्यय = लोगों को अविश्वास → परस्पर भिन्न इन साधुओं में कौन सही या इनके पता नहीं चलता।

(iii) अविश्वास से लोगों के बोधि विघात = भगले जन्म में धर्म प्राप्ति न होना। इसके निमित्त साधु के भी भावपातादि होता है।

उप. प. पहले क्रिया में अप्रमाद चारित्र का लक्षण कहा गया, अब प्रमादी गुरु को भी

DATE ___/___/___

चारित्री कहा। यह तो पूर्वापरविरोध है? उ. अप्रमाद चारित्र का लिंग है, अविनाभाव होने से। जैसे अग्नि का लिंग धूम, किंतु अग्नि तो कहीं धूम बिना भी देखा जाता है। इसी प्रकार प्रमादी को भी चारित्र हो सकता है। इसी अर्थ को कहते हैं-

गा. बकुसकुसीला तित्थं दोसत्तवा तेसु नियमसंभविणो।
जइ तेहिं वज्जणिज्जो अवज्जणिज्जो तओ नत्थि ॥1235॥

अ. बकुश और कुशील से ही तीर्थ होता है। उनमें दोष का त्व अवश्य संभव है। यदि उनके द्वारा साधु वर्जनीय है, तो अवर्जनीय कोई नहीं है।

टी. (i) मुनि 5 प्र.- पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ, स्नातक। उनमें निर्ग्रंथ और स्नातक तो अवश्य अप्रमादी हैं। वे तो श्रेणि चढ़ने से कभी ही होते हैं, हमेशा नहीं होते; इसलिए वे तीर्थप्रवाह के हेतु नहीं हैं। पुलाक भी लब्धि होने पर कभी-कभार ही होते हैं, हमेशा नहीं अतः वे भी तीर्थप्रवाह के हेतु नहीं हैं। बकुश और कुशील ही तीर्थ प्रवाह के हेतु हैं। इसीलिए लिखा है- 'बकुसकुसीला तित्थं'।

(ii) बकुश - 2 प्र. शरीर बकुश और उपकरण बकुश।
कुशील - अतिचार सहित ज्ञानादि गुण वाले।

(iii) 'दोसत्तवा... संभविणो' → इनमें दोष हमेशा अवश्य संभव है क्योंकि इनके दो गुणस्थान हैं - 6ठां प्रमत्त और 7वां अप्रमत्त। दोनों का काल अंतर्मुहूर्त है। जब वे 6ठे गुणस्थान में प्रमादी होते हैं, तब भी चारित्री होते हैं।
* सातवें गुणस्थान तक प्रायश्चित्त के योग्य अपराध होता है, उसके ऊपर परम चारित्र होता है।

(iv) 'जइ तेहिं ... नत्थि' → यदि उनके द्वारा साधु वर्जनीय हो अर्थात् साधु को साधु न माना जाए तो कोई अवर्जनीय रहेगा ही नहीं अर्थात् कोई साधु रहेगा ही नहीं। और साधु के अभाव में तीर्थ के अभाव का प्रसंग आएगा।

अब. इस उपदेश का फल-

गा. इय भावियपरमत्था मज्झत्था निययगुरुं न मुंचंति।
सव्वगुणसंपओगं अप्पाणंमिवि अपेच्छंता ॥136॥

अ. इस प्रकार परमार्थ को भावित करने वाले मध्यस्थ मुनि स्वयं में सर्व-गुणों के प्रयोग को नहीं देखते हुए निज गुरु को नहीं छोड़ते।

A.
(i) इस प्रकार - पूर्वोक्त प्रकार से।
(ii) भावितपरमार्थ - मन में परिणमन किया है यथावस्थित पक्ष जिसने, वे।
(iii) मध्यस्थ - कुग्राहादि से अदूषित।
(iv) 'सव्वगुण.... अपेच्छंता' → मध्यस्थ बुद्धिमान् विचारता है कि ये मेरे गुरु उत्सर्ग-अपवाद को जानने वाले हैं, क्रिया पर हैं, शुद्ध मार्ग के उपदेष्टा हैं, ज्ञानी हैं इत्यादि। ये मेरे परमोपकारी हैं। तथा आगम में भी कहा है - 'जहा हि अग्गी... अणंतनाणोवगओवि संतो' अतः मैं इन्हें आदर पूर्वक आराधूँगा। इस प्रकार वह मुनि आगम के बहुमान से निजगुरु को नहीं छोड़ते।

अब गुरु को छोड़ने से अनर्थ -

गा. एयं अवमन्नंतो वुत्तो सुत्तंमि पावसमणोत्ति।
महमोहबंधगोवि य खिंसंतो अपडितप्पंतो ॥137॥

अ. इन गुरु का अपमान करता साधु सूत्र में पापश्रमण कहा गया है और निंदा करने वाला तथा अप्रतितर्पण करता हुआ महामोह का बंधक कहा गया है।

B.
(i) महामोहबंधक - प्रकृष्टमिथ्यात्व का उपार्जक।
(ii) अप्रतितर्पण - उनकी सेवा वि. में आदर नहीं करता।
(iii) सूत्र - आवश्यक सूत्रादि के पाठ।

अब प्र. गुरु की शक्ति के अभाव में यदि शिष्य अधिक तप करे तो गुरु के लाघव के हेतु से युक्त है कि अयुक्त? उ. गुरु निश्रा में युक्त है क्योंकि वह गुरु के गौरव का हेतु है। शिष्य के सद् अनुष्ठान में गुरु की प्रशंसा होती है। किंतु -

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं।
DATE ___/___/___ अकरेंतो गुरुवयणं अणंतसंसारिओ होइ॥

गा. सविसेसंपि जयंतो तेसिमवन्नं विवज्जए सम्मं।
तो दंसणसोहीओ सुद्धं-चरणं लहइ साहू॥134॥

अ. भाव साधु सविशेष भी यत्न करता हुआ सम्यक् प्रकार उन गुरु की अवज्ञा का वर्जन करे। उस दर्शन की शुद्धि से साधू शुद्ध चारित्र को प्राप्त करे।

टी. (i) सविसेसंपि - अपि से 'समानं' भी।
(ii) भावार्थ - दुष्कर करने वाला ६ साधु भी उनकी अवज्ञा न करे।

अव. साधु के धर्म के लिंग का निगमन पूर्ण हुआ, इनका फल -

गा. इय सत्तलक्खणधरो होइ चरित्ती तओ य नियमेण।
कल्लाणपरंपरलाभजोगओ लहइ सिवसोक्खं॥135॥

अ. इस प्रकार जो ७ लक्षण को धारण करने वाला है, वही चारित्री है। वह कल्याण की परंपरा की प्राप्ति के योग से अवश्य शिवसुख को प्राप्तकरता है।

टी. (i) च शब्द - अवधारण अर्थ में।
(ii) कल्याण परंपरा - सुदेव → सुमनुष्य आदि।

अव. श्रावक और साधु के संबंध से दो प्र. का धर्मरत्न कहा गया। कौन किस प्रकार का धर्मरत्न करने के लिए ~~है~~ शक्य है -

गा. दुविहंपि धम्मरयणं तरइ नरो पत्तुमविगलं सो उ।
जस्सेगवीसगुणरयणसंपया सुत्थिया अत्थि॥136॥
संपूर्ण

अ. वही मनुष्य दोनों प्रकार के धर्मरत्न को ग्रहण करने के लिए समर्थ है, जिसकी 21 गुण रूपी रत्न की संपत्ति सुस्थित है।

टी. (i) अपि - कोई एक नहीं, दोनों प्रकार के धर्म।
(ii) तु शब्द - अवधारण अर्थ में।
(iii) सुस्थित - कुबोधादि से अदूषित होने से निरुपद्रव।
(iv) प्र. 21 गुण से युक्त धर्मरत्न के योग्य है, इस प्रकार पहले कहा हुआ ही है, फिर से क्यों कहा ? उ. पहले योग्यता मात्र कही गई थी, जैसे राजपुत्र बाल्यपन

DATE ___/___/143

मैं भी राज्य के योग्य हैं। यहाँ करण शक्ति से कहते हैं, जैसे प्रौढ़ राजपुत्र इतना राज्य कर सकता है।

प्रव. पूर्वाचार्यों की स्तुति-

गा. ता सुट्ठु इमं भणियं पुव्वायरिएहिं पराहियरएहिं।
इगवीसगुणोवेओ जोगो सइ धम्मरयणस्स ॥141॥

अ. अतः परहित में रत पूर्वाचार्यों द्वारा यह अच्छा कहा गया है कि 21 गुणों से युक्त ही धर्मरत्न के हमेशा योग्य है।

अव. उपसंहार -

गा. धम्मरयणोचियाणं देसचरित्तीण तह चरित्तीणं।
लिंगाइं जाइं समए भणियाइं मुणियतत्तेहिं ॥142॥

गा. तेसिं इमो भावत्थो नियमइविभवाणुसारओ भणिओ।
सपराणुग्गहहेउं समासओ संतिसूरीहिं ॥143॥

अ. धर्म रत्न के योग्य, देशचारित्री तथा चारित्री के जो लिंग तत्त्व को जानने वालों के द्वारा सिद्धांत में कहे गए हैं, उनका यह भावार्थ शांतिसूरि द्वारा स्व-पर के अनुग्रह के लिए स्वयं की मति रूप वैभव के अनुसार संक्षेप से कहा गया।

टी. (i) नियमइविभवाणुसारओ → सिद्धांत रूपी समुद्र के पार को प्राप्त करना अशक्य होने से जितना बुद्धि द्वारा जाना गया, उतना ही कहा गया।

(ii) 'सपराणुग्गहहेउं' → प्र. अनुग्रह तो आगम से ही होता है। ऐसी ग्रंथरचना से क्या लाभ? उ. आगम में तो कोई अर्थ कहीं भी कहा है। उसे अल्प आयु वाले और अल्प बुद्धि वाले इस युग के जीव (ऐदंयुगीन) जानने के लिए समर्थ नहीं है। इसलिए वह अर्थ संक्षेप से अल्पग्रंथ द्वारा कहे गए।

(iii) शांतिसूरि - शांति प्रधान है जिनें ऐसे सूरि अर्थात् मध्यस्थ और स्वस्थ चित्त वाले आचार्यों द्वारा।

DATE ___/___/_____

अब शिष्यों के अर्थित्व के उत्पादन के लिए कहे गए शास्त्र के अर्थ के परिज्ञान का फल कहते हैं-

गा. जो परिभावइ एयं सम्मं सिद्धंतगब्भजुत्तीहिं।
सो मुत्तिमग्गलग्गो कुग्गहगत्तेसु न हु पडइ ॥145॥

अ. जो इस ग्रंथ के अर्थ को सिद्धांत के गर्भ की वाली युक्तियों द्वारा सम्यक् प्रकार से विचारता है, वह मुक्ति के मार्ग में लगा हुआ कुग्रह रूपी गड्ढों में नहीं गिरता है।

वि. (i) 'जो' - लघुकर्मी
(ii) 'सम्यग्' - मध्यस्थ भाव से।
(iii) सिद्धंतगब्भजुत्ती - आगम के सार वाली युक्तियों द्वारा।
(iv) कुग्रह - दुष्षमा काल में होने वाले मतिमोह विशेष।
गत्तेसु - वे ही मति मोह गति के विघात का हेतु होने से और अनर्थ का जनक होने से गर्त्त रूप हैं।
(v) 'हु' शब्द - अवधारण अर्थ में।
(vi) 'न हु पडइ' - नहीं गिरता है अर्थात् सन्मार्ग पर सुखपूर्वक चलता है।

अब प्रकरण के अर्थ के परिज्ञान का अनंतर फल कहा। परंपर फल -

गा. इय धम्मरयणपगरणमणुदियहं जे मणंमि भावेंति।
ते गलियकलिलपंका निव्वाणसुहाइं पावेंति ॥146॥

अ. इस प्रकार धर्मरत्न प्रकरण को जो रोज मन में भावित करते हैं, वे पाप रूपी कीचड़ नष्ट कर निर्वाणसुखों को प्राप्त करते हैं।

वि. (i) 'अणुदियहं' - यह प्रतिदिन उपलक्षण होने से प्रतिसंध्य, प्रतिप्रहर इत्यादि।

स्वोपज्ञवृत्त्युद्धृतटिप्पणं शान्तिसूरिरचितं हिन्दीभाषामयमिदं धर्मरत्नप्रकरणं गुरुरामजन्मशताब्दिनिमित्तं लिखितम्।
समाप्तिवासरः → वि.सं. २०७३, ई.सन् २०१६, मा. व. १५
स्थलम् → 'नानासूरका' ग्रामः (सौराष्ट्रदेशे)।